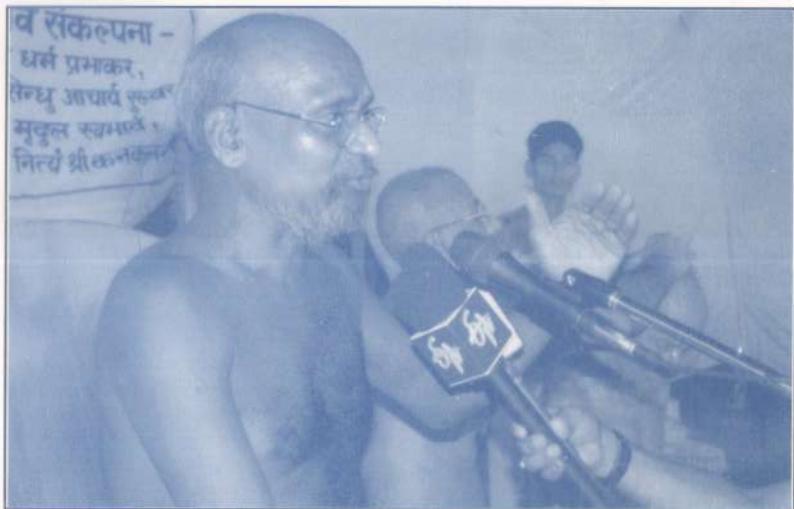


आभी की समस्याएँ सभी के समाधान



आचार्य कनकनंदी से वैज्ञानिक आध्यात्मिक धर्म सम्बन्धी इन्टरव्यु लेते हुए
E.T.V., वाईस ऑफ राजस्थान वाले

लेखक : आचार्य कनकनन्दी गुरुदेव



चतुर्मास स्थापना के दिन मंगल कलश की शोभायात्रा
(2009— रामगढ़)



श्रुतपंचमी के अवसर पर जैन दर्शन सम्बन्धी निर्मित फिल्म के निमित्त निकाली
गई जिनवाणी की शोभायात्रा में आ. कनकनन्दी ससंघ
(2009—सागवाड़ा)

अभी की समस्याएँ : सभी के समाधान (ग्रंथांक—179)

पावन प्रसंग : ग्यारहवीं वैज्ञानिक संगोष्ठी

- (1) जैन विज्ञान—आधुनिक विज्ञान से परे
- (2) वैज्ञानिक जैन आध्यात्म में निहित सफलता के सूत्र के उपलक्ष्य में....

पावन स्थल : आगमनिष्ठ—सरल—सहज—शांतिप्रिय
गुरुभक्त—अतिथि परायण—उत्तम व्यवस्थाकर्ता—दानप्रिय—
धार्मिक—सांस्कृतिक ग्राम—रामगढ़, जिला—झूंगरपुर (राज.)

मेरा चार—आयाम सिद्धांत

मगवान् है मेरा परम—सत्य स्वरूप,

सिद्धांत है स्याद्वाद—अनेकांत रूप।

सतत साधना है मेरी स्वस्थ—समता,

उपलब्धि हो मेरी परम शान्ति रूपा ॥।

—आचार्य कनकनंदी

www.jainworld.com (अमेरिका) से 147 देशों में
आचार्यश्री कनकनंदीजी गुरुदेव के साहित्य उपलब्ध है।

E.mail:shrikanaknandhiji@yahoo.com.

www.jainworld.com

अभी की समस्याएँ :

सभी के समाधान (ग्रंथांक—179)

लेखक : आचार्यश्री कनकनंदीजी गुरुदेव

तीसरे नवीन परम शिरोमणि संरक्षक तथा ज्ञानदानी—

श्रीमान् नरेन्द्र कुमारजी जैन (अमेरिका)

इस कृति के ज्ञानदानी—

श्रीमान् संतोष—सतीष—सुनील—सूरज जी जैन नागपुर

श्रीमान् शशीकांत मुधोलकर, नागपुर (महा.)

संस्करण—प्रथम—2009

प्रतियाँ 1000

मूल्य—21/- रुपये

ग्रंथांक—179

—: प्राप्ति स्थान :—

धर्म—दर्शन सेवा संस्थान, द्वारा—श्री छोटूलालजी चित्तौड़ा,

चन्द्रप्रभ दि. जैन मंदिर आयड़,

आयड़ बस स्टॉप के पास—उदयपुर (राज.)—313001

फोन नं.—(0294) 2413565, 6941114 मो. 9887370057

—: संपर्क सूत्र :—

डॉ. नारायणलाल जी कछारा (सचिव)

55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)—313001

फोन नं. (0294) 2491422, मो. 9214460622

E.mail-nlkachhara@yahoo.com.

अनुक्रमणिका

परिच्छेद क्रं. विषय	पृ. संख्या
1. संस्कारहीन साक्षर—पीढ़ी, संस्कारवान् बने तो कैसे?	10
2. धर्मध्यान से वर्षायोग की पवित्रता—प्रभावना बढ़ाएँ!	13
3. परिग्रह से प्रदूषण से प्रलय तक!	16
4. अर्थ अनर्थ का कारण!	21
(A) मोही स्व दुःख को नहीं देखता है।	24
(B) लोभी को प्राण से भी प्रिय धन है।	25
(C) त्याग के लिए भी धन संचय अयोग्य	27
5. सफलता के लिए बाधक :	31
मन—तन—धन—साधन—समय—श्रम का दुरुपयोग।	
(A) अनर्थदण्ड के भेद—प्रभेद	35
(B) अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार	37
(C) आवश्यक कर्तव्य के 32 दोष	37
(D) कायोत्सर्ग (साधनावस्था) का स्वरूप एवं उसके 32 दोष	42
(E) प्रकीर्णक (कार्य संचालन)	46
(F) सम्यता	46
(G) लज्जाशीलता	47
(H) भ्रष्ट जीवन	48
(I) चुगली से घृणा	48
(J) व्यर्थ भाषण	49
(K) आलस्य त्याग	50
(L) दोष निवारण के लिए आलोचना	51
परिशिष्ट	53

अंतरंग

आचार्य कनकनंदी

जहाँ समस्या है वहाँ ही उसका समाधान होता है। जैसा कि गांठ रुपी समस्या का समाधान गांठ में ही है अर्थात् गांठ को विपरीत क्रम से खोलने से है। जैन धर्म के महानतम सिद्धांत अनेकांत तथा वैज्ञानिक सिद्धांत सापेक्ष सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय सापेक्ष/प्रतिपक्ष सहित होते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार समस्या है तो समाधान भी है, संसार है तो मोक्ष है विश्व है तो प्रतिविश्व है। जैसा कि पुद्गल स्कंध की एक अवस्था विशेष ही अंधकार है और यह ही स्कंध परिवर्तित होकर प्रकाश रूप हो जाता है जैसा ही समस्या में ही समाधान है या समस्या का विलोम ही समाधान है। संसार के प्रत्येक जीव की प्रत्येक समस्या भले वह शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक-सामाजिक या आर्थिक ही क्यों न हो उसका मूल कारण स्वयं (स्वयं के कर्म/दोष/कुसंस्कार/कुविचार/कुप्रवृत्ति) ही है भले उसके बाह्य कारण कुछ भी हो। जैसा कि वृक्ष का मूल कारण उसका बीज है भले बाह्य कारण जल-वायु-मृदा-सूर्य किरण आदि क्यों न हो। बीज को जला देने के बाद भले कितना ही योग्य जल आदि का निमित्त मिले तथापि उस जले हुए बीज से अंकुर उत्पन्न होकर वृक्ष नहीं बन सकता है वैसा ही स्वयं के दोषों के पूर्णतः अभाव से स्वयं के लिए समस्या हो ही नहीं सकती है। जैसा कि शुद्ध जीव/सिद्ध भगवान् की किसी भी प्रकार की समस्या नहीं होती है। यह परम सार्वभौम नियम यथा योग्य सब में कार्य करता है।

जीव के स्व अशुभ-शुभ-भाव-विचार (नकारात्मक-सकारात्मक) के अनुसार ब्रह्माण्ड में फैली कार्मण-वर्गण में से अनन्तानन्त परमाणु आकर्षित होकर उस जीव के असंख्यात आत्मप्रदेश में क्रमशः पापकर्म एवं पुण्यकर्म रूप से बंध जाते हैं और योग्य काल में यथाक्रम समस्याएं उत्पन्न करते हैं तथा समस्या समाधान में कारण बनते हैं। शुद्धभाव (विचारातीत) से न समस्या होती है न समाधान की आवश्यकता होती है।

इस संबंधी विस्तृत वर्णन मैंने (आचार्य कनकनंदी) (1) कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण (2) भाग्य एवं पुरुषार्थ (3) सत्यसाम्यसुखामृतम् आदि में किया है तथापि निम्न में कुछ आधुनिक संदर्भ 'रहस्य' से उद्धृत कर रहा हूँ।

विचार चुंबकीय हैं और हर विचार की एक फ्रीक्वेन्सी होती है जब आपके मन में विचार आते हैं, तो वे ब्रह्माण्ड में पहुँचते हैं और चुंबक की तरह उसी फ्रीक्वेन्सी वाली सारी चीजों को आकर्षित करते हैं। हर भेजी गई चीज छोत तक यानी आप तक लौटकर आती है।

आप मानवीय ट्रांसमिशन टॉवर की तरह हैं और अपने विचारों से फ्रीक्वेन्सी प्रसारित कर रहे हैं। अगर आप अपनी जिंदगी में कोई चीज बदलना चाहते हैं, तो अपने विचार बदलकर फ्रीक्वेन्सी बदल लें।

अक्सर जब लोग रहस्य के इस हिस्से को पहली बार सुनते हैं, तो उन्हें इतिहास की ऐसी घटनाएँ याद आ जाती हैं, जिनमें बहुत से लोग एक साथ मरे थे। उन्हें यह समझने में मुश्किल होती है कि इतने सारे लोग खुद को उस खास घटना के प्रति कैसे आकर्षित कर सकते थे। लेकिन आकर्षण के नियम के अनुसार वे यकीनन घटना की फ्रीक्वेन्सी पर ही रहे होंगे। इसका यह मतलब नहीं है कि उन्होंने उस निश्चित दुर्घटना के बारे में सोचा होगा, लेकिन उनके विचारों की फ्रीक्वेन्सी उस दुर्घटना की फ्रीक्वेन्सी से मेल खाती होगी। अगर लोगों को यह यकीन हो कि वे गलत समय पर गलत जगह हो सकते हैं और उनका बाहरी परिस्थितियों पर कोई नियंत्रण नहीं है, तो डर, अलगाव, कमजोरी के सतत विचार उन्हें गलत समय पर गलत जगह रहने के लिए आकर्षित कर सकते हैं। कोई भी चीज आपके पास तब तक नहीं आ सकती, जब तक कि आप लगातार सोचकर उसे अपने पास न बुलाएँ।

हमसे से ज्यादातर लोग बिना सोचे-समझे घटनाओं को आकर्षित करते हैं। हम सोचते हैं कि हमारा इस पर कोई नियंत्रण नहीं है। हमारे विचार और भावनाएँ हमारी जानकारी के बिना हमें राह दिखाते हैं और हर चीज हमारी ओर खिंची चली आती है।

कोई भी जान-बूझकर कभी किसी अनचाही चीज को आकर्षित नहीं करेगा। रहस्य जानने के बाद आप यह आसानी से समझ सकते हैं कि आपके या दूसरे लोगों के जीवन में कुछ अनचाही घटनाएँ कैसे हुई होंगी। सिर्फ इसलिए क्योंकि हम अपने विचारों की महान् रचनात्मक शक्ति से अंजान थे। शोधकर्ता बताते हैं कि हमारे दिमाग में हंर दिन साठ हजार विचार आते हैं। अगर आप दिमाग में आने वाले सभी साठ हजार विचारों को नियंत्रित करने

की कोशिश करेंगे, तो सोचें कि आप कितने थक जाएँगे? सौभाग्य से एक ज्यादा आसान तरीका है—भावनाएँ। हमारी भावनाएँ हमें बता देती हैं कि हम क्या सोच रहे हैं।

भावनाएँ बेहद महत्वपूर्ण होती हैं। आपकी भावनाएँ आपके जीवन के निर्माण में आपकी मदद कर सकती हैं। इस लक्ष्य को पाने के लिए उनसे बढ़िया साधन दूसरा नहीं है। आपके विचार हर घटना के प्राथमिक कारण हैं। इस दुनिया की दिखने और अनुभव की जाने वाली बाकी हर चीज परिणाम है, और इसमें आपकी भावनाएँ शामिल हैं। कारण हमेशा आपके विचार हैं। आत्मानुशासन में कहा भी है—

कुबोध रागादि विचेष्टितैः फलं त्वयाऽपि भूयोजननादि लक्षणम् ।

प्रतीहि भव्य प्रतीलोम वर्तिभि, ध्रुवं फलं प्राप्त्यसि तद्विलक्षणम् ॥

हे भव्य! तूने बार—बार मिथ्यात्व, अज्ञान एवं राग द्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से जो जन्म—मरणादि रूप फल प्राप्त किया है उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों सम्यग्ज्ञान एवं वैराग्य जनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल अजर—अमर पद को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर।

दयादमत्याग समाधि संततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् । नयत्यवश्यं वचसामनगोचर, विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥

हे भव्य! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इंद्रिय दमन, दान और ध्यान की परंपरा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद को प्राप्त कराता है जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित है।

सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः ॥ “तत्त्वार्थ सूत्र”

Right Belief, Right Knowledge, Right Conduct, these (Together contribute) the path to liberation.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इन तीनों का सम्यक् संयोग अपि ज्ञात्मक मोक्ष का मार्ग है।

“Self reverence, self knowledge and self control, these three alone lead life to sovereign power.”

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्यज ।

क्षमार्ज्जवदयातोषं सत्यं पियूषवद् भज ॥ (02) अष्टा.गी.

अष्टावक्र ने कहा है ‘हे प्रिये! यदि तू मुक्ति चाहता है तो विषयों को विष के समान छोड़ दे और क्षमा, आर्जव (सरलता), दया, संतोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर।’

मुक्ताभिमानी मुक्तो ही बद्धो बद्धाभिमान्यपि ।

किंवदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत् ॥

मुक्ति का अभिमानी मुक्त है और बद्ध है का अभिमानी बद्ध है। यहाँ यह किंवदन्ती सत्य है कि जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है।

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च ।

सुखं वकित सुखं भुक्ते व्यवहारेऽपि शान्तधीः ॥

शांत बुद्धि वाला ज्ञानी व्यवहार में भी सुखपूर्वक बैठता है, सुखपूर्वक आता है और मर जाता है, सुखपूर्वक बोलता है और सुखपूर्वक भोजन करता है।

मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्त्तव्यनिर्वृतः ।

समः सर्वत्र वैतृष्णान्न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥

मुक्त पुरुष सब स्थिति में स्वस्थ है, किये हुए और करने योग्य कर्म में तृप्त है, सर्वत्र समान है, तृष्णा के अभाव में किये और अनकिये कर्म को स्मरण नहीं करता है।

सम्यक् विश्वास—ज्ञान—आचरण से जब ब्रह्माण्ड की संपूर्ण समस्याओं के समाधान स्वरूप मोक्ष होता है तो इससे अन्यान्य समस्याओं का समाधान होना सरल—सहज है। जिस प्रकार कि विश्वास—ज्ञान—आचरण (त्रयात्मक मार्ग—रत्नत्रय) में सम्यक्पना (यथार्थता, समुचित, संतुलितपना) आवश्यक है उसी प्रकार समय—श्रम—साधन में भी सम्यक्पना आवश्यक है। इनका भी अतिक्रम—व्यतिक्रम—अतिचार—अनाचार नहीं होना चाहिए। यथा—

अज्ञानभावादथवा प्रमादादुपेक्षणाद्वात्ययभाजि कार्य ।

पुंसः प्रयासो विफलः समस्तो गतोदके कः खलु सेतुबन्धः ॥

अज्ञान भाव से, प्रमाद से, अथवा उपेक्षा से यदि कार्य नष्ट हो जाता है तो पुरुष का समस्त प्रयास निष्फल हो जाता है क्योंकि पानी के निकल जाने पर पुल का बांधना क्या है? कुछ नहीं।

स्थितस्य कार्यस्य समुद्धरार्थ
मागामिनोऽर्थस्य च संभवार्थम् ।
अनर्थ कार्यस्य विद्यातनार्थ
यन्मन्त्रतेऽसौ परमोहि मन्त्री ॥(141)

जो चालू कार्य को आगे बढ़ाने के लिए, आगामी कार्य की उत्पत्ति के लिए और अनर्थक कार्यों का विघात करने के लिए मंत्रणा करता है निश्चय से वही उत्कृष्ट मंत्री है ॥

उद्यमः साहसं धैर्यं बलं बुद्धिं पराक्रमः ।
षडेते यस्यविद्यन्ते तस्य देवोऽपि शक्यते ॥(455) ॥

उद्यम, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि और पराक्रम ये छह जिसके पास हैं देव भी उसके वश रहते हैं ॥

उत्साहं संपन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिङ्गं व्यसनेऽवसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढं सौहृदं च
लक्ष्मीं स्वयं वाज्रच्छति वासहेतोः ॥(456) ॥

जो उत्साह से सहित है, शीघ्रता से कार्य करता है, कार्य करने की विधि को जानता है, व्यसनों में अनासक्त है, शूरवीर है, कृतज्ञ है और दृढ़ गित्रता धाला है। लक्ष्मी, निवास के हेतु उस पुरुष के समीप स्वयं पहुँचना चाहती है ।

प्रारम्भते न खलु विज्ञश्रेयेन नीचै
प्ररिष्य विज्ञविहिता विरमन्ति मध्याः ।
विज्ञौ पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारम्भमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥(515) ॥

नीच मनुष्य, विज्ञों के भय से कार्य का प्रारंभ ही नहीं करते हैं, मध्यम

मनुष्य कार्य का प्रारंभ तो करते हैं परन्तु विज्ञों से पीड़ित हो विरत हो जाते हैं, परन्तु उत्तम मनुष्य विज्ञों के द्वारा बार-बार पीड़ित होने पर भी प्रारंभ किये हुए कार्य को नहीं छोड़ते हैं ॥

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्व नारी च ।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्त्ययोग्याश्च योग्याश्च ॥

घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, नर और नारी—ये पुरुषविशेष को प्राप्त होकर योग्य अथवा अयोग्य हो जाया करते हैं ॥

मेरा दीर्घकालीन लाखों व्यक्तियों का अनुभव है कि वे उपलब्ध अंतरंग—बहिरंग (बुद्धि, शक्ति, समय, साधन आदि) का भी आवश्यकतानुसार यथायोग्य सदुपयोग तो करते नहीं हैं अपरंच उसका दुरुपयोग के साथ—साथ दूसरे व्यक्तियों के लिए भी बाधक बनते हैं। अधिकांश व्यक्ति संकीर्ण—स्वार्थी, क्षुद्र उददेश्य वाले, वर्तमान सर्वस्व (वर्तमान के क्षुद्र लाभ को ही चाहने वाले) अनुदार, अदुरदृष्टि संपन्न, आर्थिक लाभ को ही लाभ मानने वाले, लौकिक पढ़ाई को ही सफलता के प्रमुख कारण मानने वाले, अश्लील—अयोग्य मनोरंजन से आनंद चाहने वाले, स्व—स्व धार्मिक परंपराओं की रीति—रिवाजों को ही संपूर्ण धर्म मानने वाले, धन—मान सम्मान, भोरा—उपभोग—भौतिक वैभव में जीवन की सार्थकता मानने वाले और इसके लिए अन्याय—भ्रष्टाचार करने वाले होते हैं जिसके कारण जिससे संपूर्ण व्यक्तिगत समस्याओं से लेकर वैशिक समस्यायें उत्पन्न होती हैं। अतएव संपूर्ण समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त दोषों को दूर करना ही एकमात्र विकल्प है; अन्य कोई विकल्प (नान्यथा पंथा) अन्य कोई मार्ग (उपाय नहीं है) ।

इस नवीन शोधपूर्ण कृति “अमी की समस्यायें सभी के समाधान” में मैंने कठिपय आधुनिक समस्याओं को मुख्यतः केन्द्र करके उसके समाधान के भी कुछ धार्मिक एवं वैज्ञानिक कारणों का अनुसंधानात्मक वर्णन किया है। इस कृति के तन—मन—धन—समय—श्रम के सहयोगियों को मेरा शुभाशीर्वाद। इस कृति के अध्ययन—मनन—प्रायोगिक करण से संपूर्ण जीव समस्याओं से निवृत होकर समाधान स्वरूप अक्षय—अनंत सुख—शांति को प्राप्त करे ऐसी शुभकामनाओं के साथ।

आचार्य कनकनंदी
रामगढ़ (राज.)
26.07.2009

परिच्छेद-१

संस्कारहीन साक्षर—पीढ़ी संस्कारवान बने तो कैसे?

(साक्षरों को राक्षस से सुसंस्कृत बनाने के उपाय)

“जन्मतः जायते शुद्र, संस्कारात् द्विजमुच्यते”

आचारेण विहिनेन साक्षरा विपरीतेन राक्षसा एव केवलम्”

“पोथी पढि—पढि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।

ढाई अक्षर प्रेम (आत्मा) का, पढ़े सो पण्डित होय॥”

आदि नीति—वचन से ध्वनित होता है कि संस्कार—संस्कृति—सदाचार से ही मानव यथार्थ से मानव है। इतना ही नहीं संस्कारादि के कारण मानव क्रम विकास करता हुआ महामानव, अतिमानव (भगवान्) बन सकता है तो संस्कारादि से रहित किन्तु सत्ता—संपत्ति—बुद्धि—शिक्षा—प्रसिद्धि—उच्चजाति से सहित भी मानव यथार्थ से दानव—राक्षस बन जाता है।

आधुनिक वैज्ञानिक भौतिकवादी युग में मनुष्य भौतिक दृष्टि से 21वीं शताब्दी की ओर बढ़ते हुए भी नैतिक—आध्यात्मिक दृष्टि से असम्यु युग की ओर बढ़ रहा है। इसका कारण आधुनिक शिक्षा प्रणाली, अनैतिक साहित्य (नोवेल, तिलस्मी), अनैतिक अश्लील सिनेमा, टी.वी., गाना, कुसंगति, दूषित—परिसर आदि के साथ—साथ भौतिक, संकीर्ण, अनैतिक दृष्टिकोण है। डॉ. राधाकृष्णन कहते थे कि मानव पक्षी के समान अबाध रूप से आकाश में उड़ रहा है, मछली के समान पानी में तैर रहा है किन्तु यथार्थ से मानव बनकर भू—पृष्ठ पर कंधे से कंधा मिलाकर चलना नहीं सीखा है। इससे राधाकृष्णन की अन्तर्वेदना स्पष्ट व्यक्त होती है। उनका अभिप्राय यह था कि आज मानव सदाचार, नीति—नियम, प्रेम, मैत्री, अहिंसा, सत्य, न्याय आदि को छोड़कर केवल आक्षरिक मूर्ख बनकर भटक रहा है। यथार्थ से विद्या का फल मानवता को प्राप्त करना है। विवेकानंद जी कहते थे—‘शिक्षा का फल अंतर्निहित दैविक शक्ति को उजागर करना है, न केवल आक्षरिक शिक्षा प्राप्त करके, डिग्रियाँ प्राप्त करके बगुला के समान ऊपर सफेद बनकर या ‘गौमुख व्याघ’ बनकर अंतरंग में दानव रहना है।’ प्राचीन मनीषियों ने कहा भी है ‘सा विद्याया विमुक्तये’ वही विद्या यथार्थ से विद्या है जो कि बंधन से छूटने के लिए कारण

बने। परन्तु आज महान् उद्देश्य के विपरीत कार्य चल रहा है। आज के मानव का उद्देश्य ‘सा विद्या या भुक्तये’ अर्थात् वही विद्या यथार्थ से विद्या है जिससे भोगोपभोग की सामग्रियों की उपलब्धि हो।

चारित्र का महत्व प्रत्येक देश में, प्रत्येक राष्ट्र में सर्वोपरि है।

यथा— If wealth is lost, nothing is lost

If health is lost, something is lost

But if character is lost, everything is lost.

अर्थात् धन नष्ट होने से कुछ नष्ट नहीं होता है, क्योंकि धन नष्ट होने के बाद पुण्य एवं पुरुषार्थ से पुनः प्राप्त हो सकता है। स्वास्थ्य नष्ट होने से थोड़ा नष्ट होता है, क्योंकि स्वास्थ्य के बिना योग्य पुरुषार्थ नहीं हो सकता है। कहा भी है—‘शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्’ परन्तु चारित्र नष्ट होने पर संपूर्ण नष्ट हो जाता है। क्योंकि ‘चारितं खलु धर्मो’ चारित्र यथार्थ से धर्म है। चारित्र, सदाचार, सुसंस्कार, नीति—नियम से रहित जीवन पशु के जीवन से भी नीच है। परन्तु वर्तमान भौतिक, भोग प्रधान युग में मनुष्य अर्थ को महत्व देने के कारण उसका अभिप्राय विपरीत है यथा—

If character is lost, nothing is lost, If health is lost, something is lost, But if wealth is lost, everything is lost.

अर्थात् सदाचार के नाश से कुछ नाश नहीं होता है, आरोग्य के नष्ट होने से थोड़ा नष्ट होता है परन्तु धन—संपत्ति के नष्ट होने से संपूर्ण नष्ट हो जाता है। आज माँ—बाप बच्चों को लौकिक शिक्षा देने के लिए रूपया खर्च करते हैं परन्तु बच्चों को नैतिक शिक्षा नहीं देते हैं जिससे बच्चे आक्षरिक शिक्षित होते हुए भी अंतरंग में राक्षस के समान अमानवीय हैं। शेक्सपीयर ने कहा भी है—‘Look like an innocent flower but the serpent under it.’ बाहर से मनोहर पुण्य के समान सुंदर दिखाई देते हैं परन्तु अंतरंग में एक भयंकर सर्प छिपा हुआ है।

वर्तमान युग में मनुष्य से चालित यंत्र नहीं है किन्तु यंत्र से चालित मानव हो रहा है। वह आज संपूर्ण रूप से यंत्र के अधीन होने के कारण वह यंत्र का मालिक न होकर नौकर बनता जा रहा है। शिक्षा का उद्देश्य पराधीनता, अस्वच्छता, अनैतिकता नहीं है। उसका महान् उद्देश्य सदाचार या धर्म है। महान् चिंतक व्हाईट हेड ने कहा भी है—

The essence of education is that it be religious.

धार्मिक होना शिक्षा का सार तत्व है।
कुसंस्कार के कारण एवं निवारणोपाय—

संस्कारवान् आदर्श बनने के लिए पूर्व जन्म के संस्कार के साथ—साथ माता—पिता, परिवार, समाज, शिक्षक, शिक्षा के विषय शिक्षा—पद्धति, राष्ट्रीय—अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति, वातावरण एवं स्वयं के भी भाव—लक्ष्य—पुरुषार्थ महत्वपूर्ण कारण हैं। गर्भधारण—प्रक्रिया, गर्भावस्था, बाल्यावस्था में सुसंस्कार का वातावरण, निरक्षरी शिक्षा होनी चाहिए किन्तु 5—7 वर्ष के पहले स्कूल नहीं भेजना चाहिए। 2—2½ वर्षों के बच्चों को स्कूल भेजने से वे तनाव, भय, असुरक्षा की भावना, माता—पिता, परिवार—मित्रों, मनोरंजन—खेल—कूद—लाड़—प्यार के अभाव, स्कूल के अनजान वातावरण एवं शिक्षक—विद्यार्थी, पढ़ाई की असुविकर पद्धति—किताबें, पढ़ाई—परीक्षा के टेंशन—दबाव—संकीर्णता—स्वार्थपरता आदि से कुप्रभावित होकर संस्कार से दूर हो जाते हैं। वे पढ़ाई, परीक्षा, पास, फेल, नौकरी के चक्कर से शारीरिक—मानसिक—आध्यात्मिक विकास से रहित हो जाते हैं जिससे वे स्वार्थी, व्यवहार—नैतिक—धार्मिक संस्कारहीन, फैशनी, व्यसनी, आलसी, आडबरी, दंभी, नकलची, विवेकहीन, अनुदार, भ्रष्ट शोषणकारी, परोपजीवी जिज्ञासा रहित, नट—नटी (हीरो—हीरोइन) आदि के नकल बिना अकल करने वाले होते हैं। इसलिए बच्चों को विद्यालय की शिक्षा (विशेषतः गणित एवं विज्ञान) के साथ—साथ नैतिक—धार्मिक—सामाजिक—सांस्कृतिक—राष्ट्रीय—सेवा—श्रम आदि में भाग लेना चाहिए जिससे उनका समुचित विकास होगा, संस्कारवान् आदर्श बनेंगे तथा महान् लक्ष्य, अनुशासन, समयानुबद्धता से कार्य करेंगे, अभी के साक्षरी, परिग्रही (धनी) नगरी (नगरवासी) जनों में अपनी उपलब्धियों (शिक्षा, धन, जनादि, आधुनिक, उपकरणों टी.वी., मोबाइल आदि) का समुचित उपयोग करने का संस्कार (संस्कृति, योग्यता, शिक्षा) नहीं होने के कारण वे उन सब उपलब्धियों का दुरुपयोग करके रावण, कंस, हिटलर आदि के समान विध्वंसकारी कार्य करके नरराक्षस बन रहे हैं। शिक्षा—संपत्ति आदि का सदुपयोग तो संस्कारवान् महापुरुष ही कर सकते हैं।

परस्पर विरोधिन्योरेक संश्रयदुर्लभम्।

संगतं श्रीसरस्वत्योर्भयादुद्भूतये सताम्॥ (कालिदास)

परस्पर विरोधिनी लक्ष्मी और सरस्वती का, एक ही स्थान पर कठिनता से पाना जाने वाला मैल सत्पुरुषों की उन्नति करने वाला हो।

परिच्छेद—2

धर्मध्यान से वर्षायोग की पवित्रता—प्रभावना बढ़ाएँ
(धार्मिक क्रियाओं को आवश्यक क्रिया से आडम्बर क्रिया न बनाएँ)

अशुभ ध्यान (आर्त—रौद्र ध्यान) से निवृत्ति के लिए तथा परंपरा से शुक्लध्यान की प्राप्ति के सम्बन्धित—श्रावक एवं साधु—साधी धर्मध्यान का आलंबन लेते हैं। धर्मध्यान रूपी प्रशस्त भाव के कारण पाप कर्म का आस्रव—बंध कम होता है, रुक्ता है, पुण्य कर्म के आस्रव—बंध में वृद्धि होती है जिससे और भी भाव में प्रशस्तता, पवित्रता, शांति बढ़ती है, इस भव, पर—भव में सुख—समृद्धि—प्रसिद्धि मिलती है तथा अंत में सर्वोच्च फलस्वरूप मोक्ष सुख प्राप्त होता है। यह सब धर्मध्यान (श्रावक—साधु के) के केवल बाह्य आडम्बर पूर्ण क्रिया—काण्डों से संभव नहीं है। यह सब संभव है सम्यग्दर्शन से युक्त आगम सम्मत सम्यग्ज्ञान सहित समता—शांति—वीतरागता—पवित्रता—निर्लोभता—सहिष्णुता—निस्वार्थपरता से युक्त सम्यक् चारित्र से।

पूर्वाचार्यों ने भी कहा है—

प्रशस्ताध्यवसायस्य, फलस्यात्रोपलब्धितः।

प्रशस्ताध्यवसायेन, संचितं कर्म नाश्यते ॥ अ. श्रावका.

आवश्यकों में प्रशस्त परिणामों की प्राप्ति है, अतः प्रशस्त परिणामों से संचित हुए कर्म निश्चय से नाश को प्राप्त होते हैं।

जायते न स सर्वत्र, न वाच्यमिति कोविदैः।

स्फुटं सम्यकृते तत्र, तस्य सर्वत्र सम्भवात् ॥ अ. श्रावका.

वह आवश्यक क्रिया सभी स्थानों पर नहीं होती, ऐसा पंडितजनों द्वारा कहना योग्य नहीं है, अतः आवश्यक क्रियाओं की भली प्रकार से करते हुए सभी स्थानों पर संभव है।

न सम्यक्करणं तस्य, जायते ज्ञानतो विना।

शास्त्रतो न विना ज्ञानं, शास्त्रं तेनाभिधीयते ॥ (7) अ. श्रावका.

आवश्यक क्रियाओं को भली प्रकार से करना ज्ञान बिना नहीं होता है। शास्त्र के बिना ज्ञान नहीं होता इसलिए शास्त्र को कहते हैं।

लाभपूजायशोऽर्थित्वे, तस्य सम्यकृताधपि।

प्रशस्ताध्यवसायस्य, सम्भवो नोपलध्यते ॥ (8) अ. श्रावका.

लाभ, पूजा तथा यश के लिए वाऽछा सहित उन आवश्यक क्रियाओं को भली प्रकार से करते हुए भी प्रशस्त परिणामों की प्राप्ति का न होना पाया जाता है।

तदयुक्तं यतो नेदं, सम्यक्करणमुच्यते ।

अत एवात्र मृग्यन्ते, सम्यक्कृत्याधिकारिणः ॥ (9) अ. श्रावका.

वह लाभ पूजादिक की वाऽछा सहित करना योग्य नहीं अतः वाऽछा सहित करना भला नहीं कहा है, इसलिए यहाँ भली प्रकार करने योग्य अधिकारी पुरुष का स्वरूप कहते हैं।

संसार देहभोगानां, योऽसारत्वमवेक्षते ।

कषायेन्द्रिय योगानां, जयनिग्रहोधकृत् ॥ (10) अ. श्रावका.

जो पुरुष संसार, देह, भोगों की असारता को देखते हुए कषाय, इन्द्रिय, योग इनका यथाक्रम से जय, निग्रह, निरोध करते हैं अर्थात् कषायों को जीतते हैं, इन्द्रियों का दमन करते हैं, मन—वचन—काय के योग का निरोध करते हैं वे ही आवश्यक क्रियाओं के अधिकारी हैं।

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,

नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्ताया ।

जातोऽस्मि तेन जन बान्धव! दुःख पात्रं,

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥ (38)

(कल्याणमंदिर स्तोत्र पृ. 33)

मैंने आपका नाम भी सुना, पूजा भी की और दर्शन भी किये फिर भी दुःख मेरा पिण्ड नहीं छोड़ते उसका कारण सिर्फ यही मालूम होता है कि मैंने भवित्पूर्वक आपका ध्यान नहीं किया। केवल आडम्बर रूप से ही उन कामों को किया है न कि भावपूर्वक भी। यदि भाव से करता तो कभी दुःख नहीं उठाने पड़ते। अंतरंग परिणाम ही पुण्य बंध, पाप बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष के लिए कारण होता है। इसलिए पाप की निर्जरा के लिए पुण्य के उपार्जन के लिए परंपरा से मोक्ष प्राप्ति के लिए शुभ प्रशस्त भाव चाहिए।

आत्मानुशासन में कहा भी है—

परिणामसेव कारणमाहुः खलु पण्यपापयौः प्राज्ञाः ।

तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥ (23)

विद्वान् मनुष्य निश्चय से आत्मा परिणाम को ही पुण्य और पाप का कारण बतलाते हैं। इसलिए अपने निर्मल परिणाम के द्वारा पूर्वसंचित पाप की निर्जरा, नवीन पाप का निरोध और पुण्य का उपार्जन करना चाहिए।

विशेषार्थ : 'शुभ पुण्यस्याशुभः पापस्य' (तत्वार्थ सूत्र 6-3) इस सूत्र में आचार्य प्रवर श्री उमास्वामी ने यह बतलाया है कि शुभ योग पुण्य तथा अशुभ योग पाप के आस्त्रव का कारण है। यहाँ शुभ परिणाम से उत्पन्न मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को शुभ योग तथा अशुभ परिणाम से उत्पन्न मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति को अशुभ योग समझना चाहिए। इस प्रकार जब पुण्य का कारण अपना ही शुभ परिणाम तथा पाप का कारण भी अपना ही अशुभ परिणाम ठहरता है तब आत्महित अभिलाषा करने वाले भव्य जीवों को अपने परिणाम सदा निर्मल रखने चाहिए जिससे कि उनके पुण्य का संचय और पूर्वसंचित पाप का विनाश होता रहे।

वैसे तो धर्मात्मा, धर्म तथा समस्त धार्मिक कार्यक्रमों का उद्देश्य उपर्युक्त है तथापि वर्षायोग (चातुर्मास) में तो जीवों की सुरक्षा, धर्मध्यान की साधना की जाती है। इस अवधि में साधुसंघ के दीर्घ सान्निध्य में भी सामान्यजन ज्ञानार्जन, चार प्रकार के दान, वैयावृत्ति, पूजा आदि से अधिक धर्मध्यान करने का सुयोग प्राप्त करते हैं। किन्तु अभी तो प्रायः सर्वत्र साधु हो या श्रावक, गृहस्थ या पण्डित धन—मान (धनार्जन, स्वार्थसिद्धि, संकीर्ण मत—पंथ के प्रचार, व्यक्ति प्रसिद्धि, अहंवृद्धि, वर्द्धस्व आदि) को ही प्राधान्य देकर प्रायः प्रत्येक धार्मिक कार्यक्रम करते हैं। चातुर्मास, वर्षायोग मंगल कलश की स्थापना, केंशलोच, प्रवचन, जन्म—जयंती, दीक्षा जयंती, आचार्य पदारोहण, पूजा, विधान पंच कल्याणक तक धन, मान—सम्मान, मंच, माला, माइक, फोटो, टी.वी. विज्ञापन, हाथी, घोड़ा, बाजा, कवि सम्मेलन, डेकोरेशन, नाश्ता—भोजन, भीड़, मनोरंजन आदि तक ही प्रायः सीमित हो गये हैं। यथार्थ से कहे तो इन सब में ही धार्मिक कार्य की सफलता—असफलता का मूल्यांकन हो रहा है। इनमें से भी भीड़, भोजन, मनोरंजन, कमाई, मान—बड़ाई को अति प्रमुखता दी जा रही है। प्रभावना तो वास्तव में प्रकृष्ट—पवित्र भाव—विचार को कहा गया है, और इस प्रभावना के निमित्त जो धार्मिक कार्यक्रम किया जाता है वह तो आवश्यक क्रिया है जिसके माध्यम से आनुसंगिक रूप से, पुण्य से उपर्युक्त धन—मानादि की प्राप्ति होती है और उस धार्मिक क्रिया से लाभान्वित होने के लिए, उसे संपादन करने के लिए भक्त लोग एकत्रित होते हैं, धन—समय—श्रम से सहयोग करते हैं, यश बढ़ता है। किन्तु धन—मानादि के निमित्त चातुर्मास

से लेकर पंच—कल्याणक तक करना अयोग्य है। यह सब अधिक से अधिक पापानुबंधी पुण्य (दुःखदायी पुण्य) के लिए कारण है न कि पवित्रता—प्रभावना के लिए कारण है।

पुण्येण होइ विहवो विहवेण होइ मझ—मोहो।
मझ मोहेण य पाव ता पुण्यं अम्ह मा होउ॥ (60) परमा. प्रकाश

पुण्य से घर में धन—वैभव होता है और धन से अभिमान, मान से बुद्धि भ्रम होता है। बुद्धि के भ्रम होने से (अविवेक से) पाप होता है इसलिए ऐसा पुण्य हमारा न हो। भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना से रहित देखे, सुने, अनुभवे भोगों की वांछा रूप निदान बंध के परिणामों से सहित जो मिथ्यादृष्टि संसारी अज्ञानी जीव हैं, उसने पहिले उपार्जन किये भोगों की वांछा रूप पुण्य, उसके फल से प्राप्त हुई संपदा घर में होने से अभिमान (धमण्ड) होता है, अभिमान से बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट कर पाप कमाता है और पाप से भव—भव में अनंत दुःख पाता है। इसलिए मिथ्यादृष्टियों का पुण्य पाप का ही कारण है। जो सम्यक्त्वादि गुण सहित भरत, राम, पाण्डव आदि विवेकी जीव हैं उनको पुण्य बंध अभिमान उत्पन्न नहीं करता परन्तु परंपरा से मोक्ष का कारण बनता है। जैसे—अज्ञानियों को पुण्य के फल—भूत विभूति गर्व के कारण हैं, वैसे सम्यग्दृष्टियों के नहीं है। ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रंथ में श्री गुणभद्राचार्यजी ने किया है—

पहले समय में ऐसे सत्पुरुष हो गये हैं कि जिनके वचन में सत्य, बुद्धि में शास्त्र, मन में दया, पराक्रमरूप भुजाओं में शूरवीरता, याचकों में पूर्ण लक्ष्मी का दान और मोक्षमार्ग में गमन है; वे निरभिमानी हुए जिनको किसी गुण का अहंकार नहीं हुआ। उनके नाम शास्त्रों में प्रसिद्ध है परन्तु अब बड़ा अचम्भा है कि इस पंचम काल में लेशमात्र भी गुण नहीं है तो भी उद्दण्डपना है, यानी गुण तो रंचमात्र भी नहीं और अभिमान में बुद्धि रहती है।

परिच्छेद-3

परिग्रह से प्रदूषण से प्रलय तक

(परिग्रह की सत्ता असत्ता में हिंसा—अहिंसा)

उभय—परिग्रह—वर्जनमाचार्योः सूचयत्यहिंसेति।

द्विविध—परिग्रह वहनं, हिंसेति जिन—प्रवचनज्ञाः॥ (118) पु.सि.

जिन प्रवचन को जानने वाले पंचाचार परायण आचार्य दोनों प्रकार के परिग्रह को ग्रहण करना हिंसा कहा है तथा दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग अहिंसा कहा है।

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेष्ट्मि।

बंधो ध्रुव मुबधीदो इदि समणा छङ्गिया सव्वं॥ (219)॥ प्र.सार.

साधुओं ने व महाश्रमण सर्वज्ञों ने पहले दीक्षाकाल में शुद्ध—बुद्ध एक स्वभाव मई अपनी आत्मा को ही परिग्रह मानकर शेष सर्व बाह्य अम्यंतर परिग्रह को छोड़ दिया ऐसा जानकर के अन्य साधुओं को भी अपने परमात्मस्वभाव को ही अपना परिग्रह स्वीकार करके शेष सर्व ही परिग्रह को मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदना से त्याग देना चाहिए। यहाँ यह कहा गया है कि शुद्ध वैतन्यरूप निश्चय प्राण का धात जब राग—द्वेष आदि परिणामस्वरूप निश्चय हिंसा से किया जाता है तब नियम से बंध होता है। पर जीव के धात हो जाने पर बंध हो वा न भी हो, नियम नहीं है, किन्तु परद्रव्य में ममतारूप मूर्च्छा परिग्रह से तो नियम से बंध होता ही है।

इस गाथा में आचार्य कुंदकुंद भगवन्त ने एक महान् आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन किया है। शांत, स्वाभाविक, शुद्ध स्वभाव का हनन जिन राग, द्वेष, मोह, ममत्व, इच्छादि भावों से होता है उसे ही निश्चय से हिंसा कहते हैं अर्थात् वैभाविक भाव ही हिंसा है एवं स्वभाव ही अहिंसा है। वैभाविक भावों से रहित जीव की काय की क्रिया से यदि कोई जीव मर जाता है तथापि उसे हिंसा का दोष नहीं लगेगा। इसलिये द्रव्य—हिंसक, भाव अहिंसक हो सकता है, परन्तु जो बाह्य परिग्रहधारी है वह अवश्य अंतरंग परिग्रह धारी है।

क्योंकि बिना अंतरंग के मोह, ममत्व, तृष्णा, लोभ के बाह्य परिग्रह को नहीं स्वीकार कर सकता है और मोह ममत्वादि ही यथार्थ से हिंसा है। इसलिए परिग्रह धारी अवश्य हिंसक है और उसे कर्मबंध होता है। परन्तु द्रव्य—हिंसक कथचित् अहिंसक होने से उसे कर्मबंध नहीं होता है। इस दृष्टि से हिंसक से भी महाहिंसक परिग्रहधारी है। इसलिए अमृतचन्द्र सूरि ने इस गाथा की टीका में कहा है कि परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता है, ऐसा जो परिग्रह का सर्वथा अशुद्धोपयोग के साथ अविनाभाविपना है। उससे प्रसिद्ध होने वाले निश्चय अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह से तो बंध निश्चित है। इसलिए अभी तक जितने भगवान् बने पहले वे परिग्रह को त्यागकर के ही अहिंसक बने। समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमं ।
 न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविद्यो ॥
 ततस्तस्मिद्धर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं ।
 भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ (4) पृ. 132 स्व.भ.

हे भगवन्! प्राणियों की अहिंसा जगत् में परम ब्रह्म रूप से स्थित है अर्थात् अहिंसा ही परम ब्रह्म है परन्तु वह अहिंसा उस आश्रय विधि में नहीं है जिसमें थोड़ा भी आरंभ होता है। इसलिए उस अहिंसा धर्म की सिद्धि के लिये परम दयालु होकर आपने ही बाह्य और अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़ा है और यथाजात-लिंग के विरोधी वेष तथा परिग्रह से आसक्त नहीं हुए हैं। परिग्रह बहुत बड़ी हिंसा एवं बहुत बड़ा पाप होने पर भी आज स्वयं को धर्मावलंबी मानने वाले आनुसंगिक द्रव्यहिंसा को तो बहुत बड़ा पाप मानते हैं, परन्तु परिग्रह को हिंसा या पाप नहीं मानते हैं वे परिग्रह को तो पुण्य मानते हैं, शान, स्वाभिमान की वस्तु मानते हैं, जो अन्यायपूर्ण प्रणाली से यथा—मिलावट, शोषण, ठगबाजी, धोखाधड़ी आदि से भी धन कमाकर धन्ना सेठ बन जाते हैं, उसे लोग पुण्यशाली धार्मिक मानते हैं और उसके अनैतिकपूर्ण, अन्यायपूर्ण, अधार्मिक व्यवहार को भी भय के कारण सहन करते हैं परन्तु प्रतिवाद नहीं करते, निराकरण नहीं करते हैं। कुछ व्यक्ति दानादि करके अपना नाम कमाने के लिए, अहंकार की पुष्टि के लिए अन्यास से भी धन कमाते हैं और इस अन्यायपूर्ण धन से यदकिंचित् दान देकर स्वयं को धार्मिक एवं दानी मानते हैं। इतना ही नहीं, इस दान के पीछे सेलटेक्स चोरी, इन्कमटेक्स चोरी समाज के ऊपर प्रभाव डालना, अपना वर्चस्व कायम रखना आदि कुभावना भी निहित रहती है। हमारे आचार्यों ने यहाँ तक कहा है कि दान देने के लिए भी धन कमाना मानो स्नान करके शरीर को स्वच्छ करने के बहाने से शरीर को मल से लिप्त करना है। यथा—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवितः संचिनोतियः ।

स्वशरीरं स पङ्केन स्नास्याभिति विलिम्पति ॥16॥ पृ. 18 ईष्टोपदे

जो निर्धनी पुरुष पुण्य प्राप्ति होगी ऐसा विचार कर दान करने के लिए धन कमाता या जोड़ता है, वह स्नान कर लूँगा ऐसा ख्याल से अपने शरीर को कीचड़ से लपेता है। जो निर्धनी ऐसा ख्याल करे कि पात्रदान, देवपूजा आदि करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पाप की हानि होगी, इसलिए

पात्रदानादि करने के लिए धन कमाना चाहिए, नौकरी, खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिए कि वह स्नान कर डालूँगा ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता है। खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंग को स्नान कर लूँगा का ख्याल कर कीचड़ से लिप्त कर डाले तो वह बेवकूफ ही गिना जाएगा। उसी तरह पाप के द्वारा पहले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादि के पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा हुआ व्यक्ति को भी समझना चाहिए। संस्कृत टीका में यह भी लिखा है कि चक्रवर्ती आदिकों की तरह जिसको बिना यत्न किये हुए धन की प्राप्ति हो जाय तो वह उस धन से कल्याण के लिए पात्रदानादि करे तो करे। फिर किसी को भी धन का उपार्जन शुद्ध वृत्ति से हो भी नहीं हो सकता जैसा कि श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा भी है—

“शुद्धैर्धनैविवर्धन्ते, सतामपि न संपदः ।

न हि स्वच्छठाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्ध्यवः ॥”

“सत्पुरुषों की संपत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षा में गंदले पानी से भी भरी रहती हैं।”

गृहस्थ संबंधी पाप को कम करने के लिए निर्लोभता से, त्याग को बढ़ाने के लिए न्याय से कमाये धन से यथाशक्ति ज्ञान, औषधि, आहारादि दान दें। यदि परिग्रह धारी होकर भी दानादि नहीं करता है तो और भी महान् पापी हैं, लोभी हैं।

वैज्ञानिक एवं धार्मिक दृष्टि से परिग्रह से प्रदूषण से प्रलय तक

परिग्रह से एवं परिग्रह के निमित्त उत्पन्न पापों (अनर्थों) को व्यापक-आधुनिक-वैज्ञानिक-वैश्वीकरण के संदर्भ में अनुसंधान करने पर जो सत्य-तथ्य सिद्ध होता है वह अति विधंसकारी है। इसका विस्तृत वर्णन मैंने (आ. कनकनंदी) (1) विभिन्न मानसिक विकृतियों....भ्रष्टाचार (2) अहिंसा का विश्वरूप (3) अहिंसामृतम् आदि कृतियों में किया है तथापि यहाँ संक्षिप्ततः कर रहा हूँ।

परिग्रह के कारण प्रथमतः संपूर्ण प्रदूषण के मूल कारण स्वरूप लोभ-तृष्णा-लालसा-आसवित-मोह-ममता-अहंकार-ममकार होता है। इससे

पुनः शोषण—अतिसंग्रह—पूँजीवाद—धनी—गरीब में भेदभाव—शोषित—शोषक वर्ग का निर्माण—पृथ्वी का दोहन एवं शोषण, वनस्पति—वृक्ष—जंगल की कटाई, यान—वाहन—कल—कारखानों के कारण वायु प्रदूषण, जल के अपव्यय के साथ—साथ जल प्रदूषण, शब्द—प्रदूषण, पर्यावरण असंतुलन, ग्लोबल वार्मिंग, पृथ्वी के तापमान में वृद्धि, ओजोन परतों में छेद, ग्लेशियर का पिघलना, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूस्खलन, भूकंप, सुनामी, बवण्डर—चक्रवात, समुद्र के जलस्तर की वृद्धि जिसके कारण समुद्र के निकटवर्ती ग्राम—नगर का ढूब जाना, महामारी रोग से लेकर वैज्ञानिक दृष्टि से पृथ्वी का छठा प्रलय भी संभव है।

जैन धर्मानुसार भी छठा काल के अंत में पाप की वृद्धि के कारण उपर्युक्त प्रक्रिया होगी विद्वेष एवं टैक्स (कर) के लोभ से अंतिम कल्पी जैन साधु के आहार से भी भोजन के ग्रास ग्रहण करेगा, जिसके कारण मुनि, आर्थिका, श्रावक—श्राविका समाधि लेकर स्वर्ग पधारेंगे और पृथ्वी पर इस पाप के कारण धर्म और न्याय का लोप हो जाएगा जिससे वातावरण में स्थित पुद्गल स्कंधों में स्निग्धत्व गुण नष्ट हो जाएगा जिसके कारण अग्नि का भी लोप हो जाएगा। उसके बाद सात—सात (49) दिन की अग्नि, वज्र, पानी आदि की वर्षा से पृथ्वी में प्रलय होगा। जम्बूद्वीप की कर्मभूमि में खण्ड प्रलय होगा।

अत्याधुनिक वैज्ञानिक शोधानुसार भी परिग्रही (धनी) वर्ग जलवायु बदलाव के लिए जिम्मेदार है। न्यूयॉर्क से प्राप्त शोध से पृथ्वी की जलवायु में परिवर्तन के लिए धनी लोगों की विलासितापूर्ण जीवन शैली प्रमुख रूप से जिम्मेदार है।

प्रिस्टन यूनिवर्सिटी के शोधकर्ताओं ने अपने अध्ययन में यह बात कही है। भौतिक विज्ञानी शोइबल चक्रवर्ती ने बताया कि धनी लोगों की जीवन शैली में हवाई यात्राएँ, कारों का इस्तेमाल, घरों को ठंडा व गरम करने वाले उपकरणों की सेवाएँ शामिल हैं। ये सब मिलकर वातावरण को नुकसान पहुँचा रही हैं। चक्रवर्ती के अनुसार वर्ष 2008 में दुनिया में नुकसानदायक गैसों की जितनी मात्रा उत्सर्जित हुई उसके करीब आधे हिस्से के लिए 70 करोड़ धनी लोग जिम्मेदार हैं। दुनिया में इस समय औसत प्रति व्यक्ति कार्बनडाइऑक्साइड (सीओटू) उत्सर्जन करीब 5 टन सालाना है। इन सब कारणों को दृष्टि में रखकर भगवान् महावीर ने कहा है—

बहारम्भपरिग्रहत्वं नारकास्यायुषः । (15)

बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह वाले का भाव नरकायु का आस्रव है। प्राणियों को दुःख पहुँचाने वाली प्रवृत्ति करना आरंभ है। यह वस्तु मेरी है इस प्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है। जिसके बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह हो वह बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह वाला कहलाता है और उसका भाव बहवारंभ परिग्रहत्व है। हिंसा आदि क्रूर कार्यों में निरंतर प्रवृत्ति, दूसरे के धन का अपहरण, इन्द्रियों के विषयों में अत्यंत आसक्ति तथा मरने के समय कृष्ण लेश्या और रौद्रध्यान आदि का होना नरकायु के आस्रव हैं।

परिच्छेद-4

अर्थ—अनर्थ का कारण

दुरज्येनासुरक्षेण नश्वरेण घनादिना ।

स्वस्थ मन्योजनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ।(13) ।

कुछ विवेकहीन व्यक्ति धन स्त्री आदि को प्राप्त करके मैं सुखी हूँ ऐसी कल्पना कर लेते हैं। जिस धनादि को प्राप्त करके अविवेकी स्वयं को सुखी मानता है उसकी विशेषता बताते हैं। यथा—अपाय/विपत्ति अत्यधिक होने से, दुर्धार्न से आविशित होने से बहुत दुःख से अर्जित होने से दुरज्य है। यत्न से रक्षा करने पर भी सुरक्षा नहीं हो पाती है अतः असुरक्षा है। रक्षा करने पर भी नाश हो जाता है अतः नश्वर है। इसको दृष्टांत के माध्यम से समझाते हैं कि जिस प्रकार कोई ज्वर से पीड़ित मूर्ख व्यक्ति धी पीकर स्वयं को स्वस्थ मानता है उसी प्रकार दुरज्य, दूरक्षण, क्षणभंगुर, द्रव्यादि जो केवल दुःखमय है उसको प्राप्त करके मोही/अविवेकी स्वयं को सुखी मान लेता है। कहा है—

“अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे ।

आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखं भाजनम् ॥”

अर्थ के उपार्जन से दुःख, अर्जित धन के रक्षण में दुःख, आय में दुःख, व्यय में दुःख ऐसे दुःखदायी धन के लिए धिकार है।

समीक्षा : जिस प्रकार ग्राह (मगरमच्छ या घड़ियाल) मनुष्य को पकड़कर जल में डुबा देता है एवं खा लेता है, उसी प्रकार उपरोक्त 24 प्रकार का परिग्रह जीव को पकड़कर संसार में डुबाकर जन्म—मरणादि दुःख को देता है।

संपूर्ण 343 धन राजू प्रमाण विश्व में स्थित परिग्रह के भेद केवल 10 है परन्तु आश्चर्य की बात है कि 3.5 हाथ प्रमाण इस क्षुद्र शरीर में 14 परिग्रह है। व्यवहार में एक दुष्ट ग्रह के कारण मनुष्य को बहुत ही कष्ट मिलता है। तब जिनके पीछे महादुष्ट 24 परिग्रह लगे हैं, उनको कितना कष्ट मिलेगा? विचार करना चाहिए। एक ग्राह (घड़ियाल) यदि मनुष्य को पकड़कर निगल सकता है तो क्या 24 परिग्रह जीव को पकड़कर नहीं निगल सकते हैं? अर्थात् निश्चय रूप से निगल ही जाएंगे।

मूर्छा परिग्रह : बाह्य वस्तु के प्रति जो मूर्छा अर्थात् ममत्व परिणाम है, वही मुख्य अंतरंग परिग्रह है। मूर्छा, ममत्व, धन की इच्छा होने के कारण गरीब भी परिग्रहधारी है। तीर्थकर केवली के समवशरण आदि के बाह्य वैभव विश्व की सबसे अधिक विभूति होते हुए भी वह परिग्रहधारी नहीं हैं। क्योंकि वे मूर्छा ममत्व इच्छा से रहते हैं। इच्छा एक प्रकार की अलौकिक अग्नि है, क्योंकि अग्नि को ईधन मिलने पर ही बढ़ती है। ईधन के अभाव में अग्नि बुझ जाती है परन्तु यह इच्छा रूपी अग्नि वैभव के अभाव को प्राप्त करने के लिए प्रज्ज्वलित होती है एवं मिलने पर और भी अधिक रूप से प्रखर रूप से प्रज्ज्वलित होती है।

बढ़त—बढ़त संपत्ति सलिल मन सरोज बढ़ जाय।

घटत—घटत फिर न घटे, घटे तो फिर गिर जाय॥

संपत्ति रूपी पानी जितना—जितना बढ़ता जाता है उतना—उतना मन रूपी कमल बढ़ता ही जाता है। परन्तु बढ़ जाने के बाद यदि पानी घट जावे तो उस अनुपात से कमल का नाल कम नहीं होता है, जिसके कारण आधार के अभाव से नाल गिर जाता है। उसी प्रकार मन (इच्छा) जितनी धन—संपत्ति बढ़ती है, उससे भी अधिक प्राप्त करने के लिए लालायित हो जाता है, किन्तु धन कम होने पर इच्छा कम नहीं होती है, जिससे मनुष्य की इच्छा भंग हो जाती है, जिससे मनुष्य को अकथनीय मानसिक वेदना होती है। इच्छा अग्नि है, वैभव धी है। इच्छा रूपी अग्नि को शांत करने के लिए यदि वैभवरूपी धी डालेंगे तो इच्छा रूपी अग्नि शांत नहीं होगी बल्कि अधिक—अधिक बढ़ती ही जाएगी। इसलिए इच्छारूपी अग्नि को शांत करने के लिए बाह्य परिग्रह धन—संपत्ति जितना—जितना कम करेंगे उतनी—उतनी इच्छारूपी अग्नि कम होकर मानसिक शांति मिलेगी।

कनक—कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।

वे खाये बैराय नर, वे पाय बौराय॥

कनक—धतूरा (विषाक्त फल) से कनक—सुवर्ण (धन—संपत्ति) मादकता से सौ गुनी अधिक है क्योंकि धतूरा फल खाने पर ही नशा चढ़ता है परन्तु कनक अर्थात् धन को प्राप्त करते ही नशा चढ़ता है अर्थात् मनुष्य अधिक धन का इच्छुक, गर्वी एवं व्यसनी बन जाता है।

धन—संपत्ति अर्जन करना अत्यंत कष्ट साध्य है। धनार्जन के लिए मनुष्य भयंकर जंगल में जाता है, अथाह समुद्र में झूबता है, अपार सागर को पार करके प्रिय कुटुम्ब को छोड़कर अपरिचित देशांतर को जाता है।

मालिक के सामने नाचता है, गाता है, चापलूसी करता है, दीनहीन के सदृश्य मालिक की सेवा करता है। धन—संपत्ति के लिए चोरी, डकैती, कालाबाजार (दो नंबर का काम), शोषण आदि भी करता है। जिससे महापाप का बंध होता है। धन के उपार्जन बाद भी शांति नहीं मिलती है। सुरक्षा के लिए दिन—रात चिन्ता करता है। धन—संपत्ति को छिपाता है, ताले के ऊपर ताले लगाकर रखता है, असुरक्षा के भय के कारण भयभीत रहता है कोई अपहरण करने से उसके विरोध में लड़ाई भी करता है। विविध प्रकार की सुरक्षा करने पर भी पुण्य के अभाव से धन नहीं रहता है। इस प्रकार आय में दुःख, व्यय में दुःख, रक्षा में दुःख। इस प्रकार आदि—अंत—मध्य में दुःख स्वरूप धन को प्राप्त करके सुख मानता है, जैसे ज्वर ग्रसित रोगी धी पीकर सुख मानता है। ज्वर से ग्रसित रोगी के धी पीने पर उसका रोग बढ़ेगा ही घटेगा नहीं। उसी प्रकार धन से संताप बढ़ेगा ही घटेगा नहीं।

अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोऽप्यवितृप्तिः।

कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेको मुनिः सुखी॥ (65) आत्मानुशासन

धन का इच्छुक धन नहीं प्राप्त कर एवं धनी अतृप्ति के कारण दुःखी रहते हैं, परन्तु जिसने समस्त आशा को अपना दास बना दिया है, उस प्रकार के महामुनि ही सुखी हैं।

आशा दासी कृतयेन तेन दासीकृतं जगत्।

आशायश्च भवेत् दास सः दास सर्वदेहीनाम्॥

जिसने आशा को अपना दास बना दिया, उसने सर्वजगत् को दास बना

दिया। जो आशा का दास बन गया वह सब जगत् का दास बन गया।

आशा: गर्तः प्रति प्राणी यास्मिन् विश्वमणुपमम्।

कस्य किं कियदायाति वृथा यो विषयैषिता ॥ (आत्मानुशासन)

एक—एक जीव का आशारूपी गड्ढा इतना विशाल है कि उसमें यदि इस संपूर्ण विश्व को डाला जाये तो भी वह विश्व उस गड्ढे में एक अणु के समान दृष्टिगोचर होगा। यदि एक ही जीव की आशा के लिए यह संपूर्ण विश्व भी अत्यंत कम है तब विश्व में स्थित अनंतानंत जीवों के लिए कितना भागांश मिलेगा। इसलिए विषय—इच्छा करना नितानंत भूल है। यह आशारूपी गर्त अत्यंत विचित्र है, क्योंकि एक बार गर्त में जितना—जितना द्रव्य डालते जायेंगे वह गर्त में उतना—उतना पूर्ण होता जायेगा किन्तु आशारूपी गर्त में जितना—जितना द्रव्य डालेंगे उतना—उतना आशा का गड्ढा बढ़ता ही जायेगा किन्तु कम नहीं होगा अर्थात् घटेगा नहीं बढ़ता ही जायेगा और जितना—जितना कम करते जायेंगे उतना—उतना पूर्ण होता जायेगा और पूर्ण आशा को निकाल देने से गड्ढा पूर्णरूप से भर जायेगा यही इस गड्ढे की विचित्रता है। इसलिए आशा की पूर्ति आशा त्याग से ही होती है आशा करने से नहीं होती है।

मोही स्व दुःख को नहीं देखता है

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते ।

दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् । (14) ।

धनादि में आसक्त होने के कारण जिसका विवेक लुप्त हो गया है ऐसा मूढ़ व्यक्ति चोरादि के द्वारा धन—अपहरण आदि स्वयं की विपत्तियों को नहीं देख पाता है। इसके लिए आचार्यश्री ने एक उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार जंगल के मध्य में वृक्ष के ऊपर बैठा हुआ एक व्यक्ति दावानल से जलता हुआ जंगल और पशुओं को देखकर भी वह सोचता है यह विपत्ति मेरी नहीं है अर्थात् वह सोचता है कि इस जंगल के पशु—पक्षी जलेंगे, पेड़—पौधे जलेंगे लेकिन मैं पेड़ पर बैठा हूँ इसलिए मैं नहीं जलूँगा। इसी प्रकार मोही मूढ़ व्यक्ति दूसरों की विपत्ति को तो जानता है, मानता है परन्तु स्वयं की विपत्ति को नहीं जानता है।

समीक्षा : जिस प्रकार चक्षु बाह्य योग्य वस्तु को देखती है परन्तु स्वयं को नहीं देख पाती है उसी प्रकार आत्मश्रद्धान्, आत्मपरिज्ञान, स्वानुभव से

रहित अज्ञानी—मोही जीव मोह एवं अज्ञान के कारण जो विपत्तियाँ उसके ऊपर आती हैं उसे वह अनुभव नहीं कर पाता है भले दूसरों के कष्टों को देखकर उन्हें वह दुःखी मानता हो। जिस प्रकार बेहोश अवस्था में स्थित व्यक्ति स्वयं के दुःखों को अनुभव नहीं करता है। अधिक शराबादि पीने पर भी व्यक्ति नशा के कारण स्वयं को चोटादि लगाने पर भी उसकी पीड़ा अनुभव नहीं करता है इसी प्रकार मोही जीव धनादि अर्जन में जो कष्ट होता है उसे अनुभव नहीं करता है। मैंने अनेक व्यक्तियों को देखा है जो धनार्जन में या धनाभाव से शारीरिक—मानसिक अथवा पारिवारिक या सामाजिक कारण से या उपर्युक्त समस्त कारणों से दुःखी होते हुए भी स्वयं तो मुनि नहीं बनता है परन्तु जो मुनि बनना चाहता है उसका भी इसलिए विरोध करता है कि मुनि अवस्था में कष्ट है। इतना ही नहीं आध्यात्मिक—सुख—संपन्न मुनियों को भी स्वयं से भी अधिक दुःखी मानता है। मैंने अनेक व्यक्तियों को देखा जिनके पास रहने के लिए कुटियाँ नहीं, पहनने के लिए अच्छे कपड़े नहीं, खाने के लिए सूखी रोटी भी नहीं हैं वे भी महान् दिग्म्बर साधुओं को तुच्छ भाव से देखते हैं, स्वयं को मुनियों से भी सुखी मानते हैं। इतना ही नहीं स्वयं को पक्का जैन धर्मावलंबी मानते हुए भी दुःखी होते हुए भी स्वयं तो मुनि नहीं बनता है परन्तु जो भी मुनि बनता है उसका विरोध भी करता है।

लोभी को प्राण से भी प्रिय धन है

आयुवृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमम्

वाञ्छतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम् ॥ (15) ॥

व्यक्ति की आयु की वृद्धि अर्थात् आयु (उसकी) का क्षय है। धन संग्रह के लिए समय की आवश्यकता पड़ती है अर्थात् जब आयु बढ़ती है तब उस अनुपात से उसकी आयु का क्षय होता है, परन्तु धन संग्रह के कारण आयु वृद्धिरूपी क्षय को वह अच्छा मानता है। इसलिए आचार्यश्री ने व्याज (व्यंग्य) रूप में कहा है कि—व्यक्ति जीवन से भी अधिक धन को इष्ट मानता है इसलिए तो काल क्षयरूपी आयु वृद्धि को जो धनार्जन के लिए कारण है, उसे अच्छा मानता है।

समीक्षा : शरीर निर्वाह के लिए धन की आवश्यकता होने के कारण धन बहुत कुछ होते हुए भी धन सब कुछ नहीं है। यह मनुष्य जन्म विश्व में अति दुर्लभ है। अनंत काल तिर्यच आदि गति में परिप्रेक्षण के बाद मनुष्य जन्म मिलता है। इस जन्म में ही मनुष्य धर्म करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है तथापि

मोही, लोभी व्यक्ति इन सबकी परवाह नहीं करके केवल धन के पीछे दिवालिया होकर भागता रहता है। उसके जीवन के अमूल्य क्षण केवल नश्वर जड़ वस्तु के संग्रह में ही नष्ट हो जाते हैं। समय का समूह ही जीवन है। जो एक समय नष्ट हो गया उसको संपूर्ण विश्व की संपत्ति देकर भी पुनः प्राप्त नहीं कर सकते हैं तथापि ऐसे मूल्यवान् समय को भी नश्वर संपत्ति के पीछे खो देता है।

मैंने विभिन्न क्षेत्रों के अनेकों व्यक्तियों को देखा है जो धन के पीछे दिवालिया होते हैं कि वे अपना पारिवारिक कर्तव्य, सामाजिक उत्तरदायित्व, धार्मिक नीति, नियम, सदाचार को लांघ जाते हैं। उनके लिए धन ही, माता-पिता—गुरु, धर्म, नीति, नियम सदाचार हैं। जहाँ से उन्हें धन मिला वही उनका मोक्ष मार्ग है। इतना ही नहीं कुछ लोग अपनी संपूर्ण सीमाओं को लांघ जाते हैं, जब वे नैतिक स्तर पर काम करने वालों को और धर्म में तन—मन—धन—समय लगाने वालों को मूर्ख, गंवार, अयोग्य, नालायक मानते हैं। इतना ही नहीं उसकी निंदा करते हैं, विरोध करते हैं, उनकी हँसी उड़ाते हैं। वे धन को ही सर्वस्व मानते हैं जो येन—केन प्रकार से शोषण या कालाबाजारी करके भी धन कमाते हैं, उन्हें वे महान् आदरणीय श्रेष्ठ मानते हैं।

ऐसे धन लोलुपी व्यक्तियों के अभिप्राय के बारे में भर्तृहरि ने कहा भी है—

जातिर्यातु रसातलं गुण गणस्तत्राप्यधो गच्छात्,
शीलं शैल तटात्पतवभिजनः सदह्यतां वहिनना।
शौर्यं वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु न केवलं,
येनै केन बिना गुणास्तृणलवप्रायः समस्ता इमे ॥39॥

जाति भले ही रसातल को चली जाय, गुणवान् भले उससे भी नीचे चले जाये, सदाचार पर्वत से गिरकर भले ही चकनाचूर हो जाये, परिवार के लोग अग्नि से भले ही भस्म हो जाये, शत्रुरूपी शूरता पर भले ही वज्र गिर जाये इस तरह भले ही सर्वनाश हो जाये पर हमें तो केवल एक धन से ही संबंध है। वह हमारा सुरक्षित रह जाये, जिसके बिना सभी गुण तृणवत् हैं।

तानोन्द्रियाण्याविकलानि तदेव नाम,
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।

अर्थात् धन विरहितः पुरुषः स एव,

त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥(40)॥

वे ही सब इन्द्रियाँ हैं, वही नाम है, अकुंठित वही बुद्धि है, पहले जैसी वही वाणी है, सब कुछ वही है परन्तु पुरुष जब धन की गर्भी से रहित हो जाता है तब वह क्षण मात्र में और का ओर ही हो जाता है।

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः;

स पण्डितः स श्रुतवान्नुणज्ञः।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः;

सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते ॥(41)॥

जिसके पास धन है वही कुलीन है, वही पण्डित है, वही विद्वान् और गुणी है, वही वक्ता और दर्शनीय है।

तात्पर्य यह है कि सभी गुण सोने (धन) में रहा करते हैं।

त्याग के लिए भी धन संचय अयोग्य

त्यागायश्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।

स्वशरीरं सपंकेन स्नास्यामीति विलम्पति ॥(16)॥

जो निर्धन व्यक्ति सेवा, कृषि आदि कर्म से धन संचय करके पात्रदान, देवपूजा, त्याग आदि करके अपूर्व पुण्य प्राप्त करना चाहता है वह स्नान कर लूँगा इस प्रकार विचार करके स्व शरीर को कीचड़ से युक्त करता है। यथा—कोई निर्मल शरीर वाला सोचता है कि मैं बाद में शरीर को स्नानादि से स्वच्छ कर लूँगा। इस प्रकार से स्वच्छ शरीर को कीचड़ से मल से लिप्त कर लेता है उसी प्रकार जो अविवेकी, असमीक्षाकारी पाप से धनोपार्जन करके पात्रदानादि पुण्य से पाप को नष्ट कर दँगा ऐसा मानकर धनार्जन करता है वह भी अयोग्य है क्योंकि शुद्ध वृत्ति से किसी के भी धनार्जन संभव नहीं है।

समीक्षा : यादृशी भावना यस्यसिद्धिर्भवति तादृशी।

अर्थात् जिस प्रकार भावना होती है, उसी प्रकार सिद्धि होती है, क्योंकि “भावना भवनाशिनी, भावना भववर्द्धनी” अर्थात् पवित्र भावना से भव का नाश होता है, तो दूषित भावना से भव की वृद्धि होती है। इसलिए पूजक को, धार्मिक व्यक्ति को हर समय हर तरह से भाव को संभालना चाहिए व परिमार्जित

करना चाहिए। पूजा, अर्चना, दान, तीर्थयात्रा, स्वाध्याय आदि का परम लक्ष्य आत्मा को निर्मल बनाना है और मोक्ष प्राप्त करना है, उसका आनुषंगिक फल पुण्य उपार्जन है, जिसका फल संसार की विभूति है।

परन्तु जो संपत्ति, पुत्र प्राप्ति, केस में जययुक्त होना, शत्रु को कष्ट पहुँचाना आदि क्षुद्र लौकिक सिद्धि के लिए तथा परलोक में स्वर्ग प्राप्ति, भोग प्राप्ति आदि के लिए पूजा, दान आदि करता है तो उसका भाव दूषित, उद्देश्य क्षुद्र होने के कारण यथार्थ नहीं है। निदान करने से फल की उपलब्धि भी कम हो जाती है, इसलिए प्रत्येक धार्मिक कार्य पवित्र उद्देश्य से पवित्र साधनों से ही उत्पादन होना चाहिए। भोग, धन, स्त्री, पुत्र आदि की कामना से धर्म करना जैसे भीख माँगना है। धर्म भक्त को भगवान् बनाता है, परन्तु भक्त को भिखारी नहीं बनाता है। धर्म के नाम पर भीख माँगना भी भिखारीपना है इसलिए त्यजनीय है कवि ने कहा भी है—

माँगन मरण समान है, मत माँगे कोई भीख
माँगन से मरना भला, यह सतगुरन की सीख
बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख
बिना माँगे दूध बराबर, माँगे मिले सो पानी
कबीर वह है खुन बराबर, जामे खींचा तानी।

जो दान करने के लिए भी अन्याय से धन उपार्जन करता है वह भी अधार्मिक अज्ञानी है क्योंकि उसका साधन अपवित्र है, इतना ही नहीं वह उस धन से वस्तुतः धर्म नहीं चाहता है, प्रसिद्धि, कीर्ति चाहता है, क्योंकि वास्तविक धार्मिक व्यक्ति धर्म का स्वरूप उसका साधन एवं उसका उद्देश्य जानता है धर्म आत्मा का स्वरूप है, आत्मा ही उसका साधन एवं सिद्धि हैं। उपर्युक्त कारणों से यह सिद्ध होता है कि पूजक को पहले स्वयं में योग्यता लानी चाहिए। श्रावक के कुछ विशिष्ट गुणों का वर्णन करते हुए कहा है—

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरुन् सद्गीस्त्रिवर्गभजन्न,
न्यायोनुगुणं तदर्हगृहिणः स्थानालयो हीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
श्रृण्वन् धर्मविधि दयालुरधर्मः सागारधर्म चरेत् ॥

न्यायपूर्वक धन कमाने वाला गुणों, गुरुजनों और गुणों से महान् गुरुओं को पूजने वाला, आदर, सत्कार करने वाला, परनिन्दा, कठोरता आदि से रहित प्रशस्त वाणी बोलने वाला, परस्पर में एक-दूसरे को हानि न पहुँचाते हुए धर्म और काम का सेवन करने वाला, धर्म, अर्थ और काम सेवन के योग्य पत्नी, गाँव, नगर और मकान वाला लज्जाशील, शास्त्रानुसार खान-पान और गमनागमन करने वाला सदाचारी पुरुषों की संगति करने वाला, विचारशील, पर के द्वारा किये उपकार को मानने वाला, जितेन्द्रिय, धर्म की विधि को सुनने वाला, दयालु और पापभीरु पुरुष गृहस्थ धर्म को पालने में समर्थ होता है।

उपर्युक्त श्रावकों के गुण में प्रथम गुण है “न्यायपूर्वक धन कमाना” श्रावक गृह में रहता है व्यापार-धंधा करना है इसलिए उसको धन की आवश्यकता पड़ती है। तथापि धनार्जन असत् उपायों से नहीं करना चाहिए।

स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासधात, ठगना, चोरी करना आदि निन्दित उपायों से धनोपार्जन रहित तथा अपने—अपने वर्णों के अनुसार सदाचार को न्याय कहते हैं। न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना न्यायोपात्तधन कहलाता है। जो पुरुष न्यायपूर्वक धनोपार्जन करता है वही गृहस्थ धर्म धारण करने योग्य है क्योंकि गृहस्थों की मनोवृत्ति प्रायः कर धनोपार्जन में ही लगती रहती है। इसलिए धनेच्छुक मनुष्य यहाँ तहा न्याय—अन्याय का विचार न करने धनोपार्जन करते हैं। उनकी मनोभूमि एकदेशब्रत पालन करके की तरफ नहीं झुक सकती है। न्यायोपार्जन किया हुआ धन ही इस लोक और परलोक में सुख देने वाला है। सो ही आचार्यों ने कहा है—

सर्वत्र शुचयो धीराः सुकर्मबलगर्विताः।

स्वकर्मनिहितात्मानः पापाः सर्वत्र शंकिताः ॥

जो पुरुष न्याय और उत्तम कर्मों के बल से गर्वित हैं वे पुरुष सब जगह प्रत्येक स्थिति में तथा प्रत्येक कार्य में धीर तथा पवित्र रहते हैं। उनको कहीं पर भी किसी प्रकार का भय नहीं होता है। परन्तु जिन्होंने निंद्य तथा नीच कर्मों से अपनी आत्मा को पवित्र किया है, वे सब शंकित तथा भयभीत हैं और भी आचार्यों ने कहा है—

अन्यायोपार्जितं वित्त दश वर्षाणि तिष्ठति ।

प्राप्तत्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ॥(9) ॥

यांति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यचोऽपि सहायतां ।

अपन्थानं तुं गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति । ॥(10)

अन्यायपूर्वक उपार्जन किया हुआ धन अधिक से अधिक दस वर्ष तक रह सकता है और ग्यारहवाँ वर्ष लगने पर मूल सहित नष्ट हो जाता है। न्यायमार्ग पर चलने वाले पुरुषों को तिर्यच भी सहायता करते हैं और अन्यायपूर्वक प्रवृत्ति करने वालों का साथ अपना सगा भाई भी छोड़ देता है। दूसरे की तो बात ही क्या है इसलिए न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना चाहिए। परन्तु वर्तमान में प्रायः दिखाई देता है कि अनेक लोग अनैतिक व्यापार, हिंसात्मक व्यापार, निषिद्ध व्यापार आदि करके धन कमाते हैं और उससे दानादि करके धर्म करना चाहते हैं। जैसे कुछ व्यक्ति स्वयं तो शराब नहीं पीते किन्तु शराब की फैक्ट्रीयाँ, दुकानें चलाते हैं। कुछ व्यक्ति स्वयं तो बीड़ी नहीं पीते परन्तु बीड़ी की फैक्ट्री में बीड़ी बनवाते हैं व दुकान पर बेचते हैं, कुछ व्यक्ति खुद तो माँस नहीं खाते किन्तु डालडा में चर्बी मिलाकर दूसरों को खिलाते हैं। कुछ व्यक्ति स्वयं चर्म निर्मित वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते परन्तु चर्म की विभिन्न सामग्रियाँ यथा—जूते, चप्पल, बेल्ट, सूटकेस, मनीबेग आदि निर्माण करके विक्रय करते हैं। वे सोचते हैं कि हम तो स्वयं नहीं खाते, प्रयोग में नहीं लाते, हम तो केवल धन कमाने के लिए, व्यापार रूप में प्रयोग में लाते हैं इसमें हमारा क्या दोष है? परन्तु उन्हें जान लेना चाहिए कि केवल पाप कृत रूप में नहीं होता है परन्तु पाप मनसा, वचसा, कर्मणा, कृत, कारित, अनुमोदना से भी होता है। उनकी सोच ऐसी है कि हम विष पीते नहीं, पिलाते हैं। क्या यह दोषकारक है? परन्तु विवेक से विचार करने पर सिद्ध होता है कि विष पीने से तो स्वयं की एक ही की हत्या होती है किन्तु विष पिलाने से अनेक व्यक्तियों की हत्या होती है। इसी प्रकार माँस खाने से, बीड़ी, तम्बाकू आदि नशीली वस्तुओं का सेवन करने से तो स्वयं भी पाप कमाता है परन्तु इसके उत्पादन करके एवं विक्रय करने से तो स्वयं भी पाप कमाता है एवं दूसरों से भी पाप करवाता है, हिंसा करवाता है इन हिंसात्मक व्यापारों से हिंसा के साथ—साथ पर्यावरण भी दूषित हो जाता है।

विश्व में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में हिंसा व अत्याचार को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए उपर्युक्त निषिद्ध व्यापार जो करता है वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता।

परिच्छेद-5

सफलता के लिए बाधक :

मन—तन—धन—साधन—समय—श्रम का दुरुपयोग

“पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं न कुर्वन्ति मानवाः।

पापस्यफलनेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥ ॥”

अर्थात् पुण्य का फल सुख मानव चाहता है परन्तु पुण्य नहीं करता है किन्तु पाप का फल दुःख नहीं चाहता है तथापि यत्नपूर्वक पाप करता है। भावार्थ यह है कि पुण्य—स्वरूप सम्यक्—उन्नत भाव—वचन—व्यवहार के फलस्वरूप सुख—शांति—समृद्धि—प्रशंसा आदि चाहता है परन्तु ऐसा पुण्य नहीं करता है तथा पापस्वरूप असम्यक्—तुच्छ भाव—वचन—व्यवहार के फलस्वरूप दुःख—अशांति—विपन्नता—निन्दा आदि नहीं चाहता है तथापि ऐसा पाप यत्नपूर्वक करता है। जिससे जीव पवित्र—उन्नत—सुख—शांति प्राप्त करता है उसे पुण्य कहते हैं और जिससे जीव पतन—पतित—दूषित—दुःख—अशांति को प्राप्त करता है उसे पाप कहते हैं। जिस प्रकार की पानी सहजता से नीचे की ओर बहता है उसी प्रकार मानव की सहज प्रवृत्ति (कर्म संस्कार जनित प्रवृत्ति) नीचे (असम्यक्, अयोग्य, अनावश्यक, दुरुपयोग) की ओर होती है। जैसा कि तुला यंत्र के दोनों पलड़ों के ऊपर—नीचे, हिलना—डुलना, सरल—सहज है परन्तु संतुलित रूप में स्थिर होना कष्ट साध्य—श्रमसाध्य पलड़े में रखी हुई वस्तु के समतोल के ऊपर निर्भर है, वैसा ही मानव का मन—वचन—काय—श्रम—साधन—समय—धन रूपी तुलायंत्र में संतुलित होकर प्रवृत्ति करना कष्टसाध्य—श्रमसाध्य—समतासाध्य है।

“उन्नत मानस यस्य तस्य भाग्य समुन्नतम्”, “मनस्यैक—वचस्यैक—कर्मण्यैक महात्मानाम्”, “यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी” आदि महान् आध्यात्मिक सूत्रों से यह शिक्षा मिलती है कि ‘जिसके भाव उन्नत है उसके भाग्य उन्नत है’, ‘जिसके मन—वचन—कर्म सरल—सहज—पवित्र एवं एकनिष्ठ है वह महात्मा है’, ‘जिसकी भावना जैसी होती है उसकी सिद्धि वैसी होती है।’ महान् पवित्र उद्देश्य/लक्ष्य संपन्न महामनीषी कभी भी किसी भी वस्तु—धन—जन—समय—साधन—वचन आदि का अपव्यय, दुरुपयोग, अप्रयोजनभूत प्रयोग कदापि—कथंजित नहीं करते हैं। कथंजित प्रमादवशतः ऐसा अनर्थदण्ड

होने पर वे उसे दोष मानकर प्रतिक्रमण करके प्रायशिच्छा लेकर आगे के लिए इसका प्रत्याख्यान करते हैं। भगवान् महावीर ने तो अप्रयोजन भूत कार्य (अनर्थदण्ड) को हिंसा तक कहा है। यथा—

भूखनन—वृक्षमोटन, शाढ़वलदलनां द्वुसेचनादीनि ।

निष्कारण न कुर्यात्, दलफल—कुसुमोच्चयानापि च ॥ (143, पु.सि.उ.)

भूमि को खोदना, वृक्ष को उखाड़ना, घास, पत्ते तोड़ना, पानी ढोलना, सिंघन करना आदि कार्य निष्कारण नहीं करना चाहिए। आदि शब्द से अन्य भी जितने निष्कारण, अप्रयोजन कार्य है उन्हें भी नहीं करना चाहिए। किसी भी कार्य को अनावश्यक करना अनर्थदण्ड रूप हिंसा है।

अनेक व्यक्ति एक स्थान में बैठ—बैठकर या चलते—फिरते भी अप्रयोजन जमीन को खोदते हैं, घास—फूस को तोड़ते हैं, पशु—पक्षियों को मारते हैं, दूसरों को चिमटी भरते हैं, कपड़े खींचते हैं, चोटी खींचते हैं, दाँत से नाखून दूसरों को कटते हैं, गाल नोचते हैं, हौंठ चबाते हैं, जहाँ तहाँ लिखते रहते हैं, गप्प लगाते कुतरते हैं, गाल नोचते हैं, हौंठ चबाते हैं, जहाँ तहाँ लिखते रहते हैं, गप्प लगाते रहते हैं। इससे समय, शक्ति, बुद्धि का दुरुपयोग होता है, पाप बंध होता है, रहते हैं। अनेक कार्य में व्यवधान वस्तु की बर्बादी होती है, दूसरों को कष्ट होता है, अनेक कार्य में व्यवधान होता है। इसलिए ऐसे कार्य को अनर्थदण्ड कहा गया है। मेरा अनुभव है पड़ता है। प्रत्येक लौकिक या आध्यात्मिक कार्य योग्य अंतरंग एवं बहिरंग कारणों के सम्यक् समवाय (समन्वय) से तथा विरोधी कारणों के अभाव से संपादन होता है। प्रकारांतर से कहे तो योग्य द्रव्य—क्षेत्र—काल—भाव—पुरुषार्थ से प्रत्येक कार्य संपादन होता है। यदि उपर्युक्त कारणों में से किसी भी कारण के अभाव या विरोधी कारण के सम्बाव से भी कार्य नहीं होता है। यथा—किसी भी विद्युत चालित यंत्र के प्रत्येक कलपुर्ज सही होना चाहिए तथा पर्याप्त विद्युत भी चाहिए। ऐसा ही प्रत्येक कार्य के लिए जानना चाहिए। जिस प्रकार कि विद्युत यंत्र के लिए विद्युत अपरिहार्य अतिआवश्यक कारक है उसी प्रकार सफलता के लिए सम्यक् पुरुषार्थ अपरिहार्य अतिआवश्यक कारक है। इससे विपरीत अन्य—अन्य कारकों के सम्बाव से भी पुरुषार्थीन/आलसी, प्रमादी व्यक्ति महान् कार्य की तो बात छोड़ें, छोटे भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। यथा—

प्रकार बुद्धि की बर्बादी दूसरों को ठगने में, झगड़ा करने में, कुर्तक करने में है तो धन की बर्बादी व्यसन में, भोग में खर्च करने में है तथा शक्ति, सत्ता का दुरुपयोग दूसरों को कष्ट देने में, शोषण करने में, दबाव में रखने में है। इस विषय का विशेष वर्णन मैंने “उपलब्धि से सदुपयोग दुर्लभ” में किया है। विशेष जिज्ञासु के लिए पठनीय है।

रागादिवर्धनानां, दुष्टकथानामबोध—बहुलानाम् ।

न कदाचन कुर्वीत, श्रवणाऽर्जन—शिक्षणादीनि ॥ (145)

दुष्ट कथाओं का श्रवण, व्याख्यान, शिक्षण आदि कदाचित् नहीं करना चाहिए। जिससे हिंसा का प्रवर्तन होता है तथा हिंसादि शास्त्रों का श्रवण, अर्जन, शिक्षण, परकथन इत्यादि दुष्ट कथाओं का श्रवण आदि कदाचित् नहीं करना चाहिए। जिससे रागादि बढ़ते हैं, काम कथा बढ़ती है, अज्ञानता बहुल है ऐसे पंच प्रकार के अनर्थ दण्ड को नहीं करना चाहिए जो हिंसा के कारण हैं।

प्रत्येक लौकिक या आध्यात्मिक कार्य योग्य अंतरंग एवं बहिरंग कारणों के सम्यक् समवाय (समन्वय) से तथा विरोधी कारणों के अभाव से संपादन होता है। प्रत्येक कार्य संपादन होता है। यदि उपर्युक्त कारणों में से किसी भी कारण के अभाव या विरोधी कारण के सम्बाव से भी कार्य नहीं होता है। यथा—किसी भी विद्युत चालित यंत्र के प्रत्येक कलपुर्ज सही होना चाहिए तथा पर्याप्त विद्युत भी चाहिए। ऐसा ही प्रत्येक कार्य के लिए जानना चाहिए। जिस प्रकार कि विद्युत यंत्र के लिए विद्युत अपरिहार्य अतिआवश्यक कारक है उसी प्रकार सफलता के लिए सम्यक् पुरुषार्थ अपरिहार्य अतिआवश्यक कारक है। इससे विपरीत अन्य—अन्य कारकों के सम्बाव से भी पुरुषार्थीन/आलसी, प्रमादी व्यक्ति महान् कार्य की तो बात छोड़ें, छोटे भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। यथा—

“आलसः सर्वकर्मणामनधिकारी । अर्थात् आलसी व्यक्ति समस्त कार्यों के अयोग्य होता है।” (नीति वाक्यामृतं, 144)

‘प्रमादवान् भवत्यवश्यं विद्विषां वशः। अर्थात् कर्तव्य—पालन में असावधान रहने वाला व्यक्ति निश्चय से शत्रुओं के वश हो जाता है।’ (नीति वाक्या 145)।

जिस प्रकार कि पुरुषार्थीन व्यक्ति सफलता को प्राप्त नहीं कर सकता है उसी प्रकार अस्थिर चित्त वाला (चंचल चित्त, तनाव, उदासीन, निराशा, उत्साहहीन, विक्षुल्भ, भयाल, वित्तवाला भी) सफलता को प्राप्त नहीं कर सकता है यथा—“क्षणिकचित्तः किञ्चिचदपि न साधयति अर्थात् चंचल चित्त वाला व्यक्ति किसी भी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता।” (नीति वाक्या. 142)

जिस प्रकार कि अस्थिर लैंस से अग्नि उत्पन्न नहीं होती है, अस्थिर जल में सही प्रतिबिंब दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार अस्थिर चित्त वाला कोई विषय को न सही देख पाता है, न सुन पाता है, न समझ पाता है, न याद कर पाता है, न ही सही काम कर पाता है तो फिर इन सबके परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली सफलता को कैसे प्राप्त कर सकता है? अर्थात् कदापि सफलता को प्राप्त नहीं कर सकता है।

वैसे तो प्रत्येक कार्य के लिए उपर्युक्त नियम लागू होते हैं परन्तु विशेषतः ज्ञानार्जन, धार्मिक कार्यक्रम, ध्यान, आध्यात्मिक साधना में उपर्युक्त नियमों की पालना उत्तरोत्तर श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम् करने की अनिवार्यता होती है। क्योंकि यह सब कार्य सूक्ष्म-आध्यात्मिक होने के साथ-साथ होती है। क्योंकि यह सब कार्य क्रोडों व्यक्ति संबंधी मेरा अनभ्यस्त, श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, विलष्ट है। परन्तु लाखों-करोड़ों व्यक्ति संबंधी मेरा अनुभव है कि वे तो अप्रयोजन भूत-अनर्थ कार्य-भाव-वचनों में जितनी क्षेत्र में जितना विकास करना चाहिए था उतना नहीं कर पाया है तथा अभी भी नहीं कर पा रहा है। विश्वगुरु भारत को तो हर क्षेत्र में आदर्श-श्रेष्ठ-ज्येष्ठ होना चाहिए था परन्तु उपर्युक्त दुर्गुणों के कारण ढोंगी, पाखण्डी, अनुदार, रुढ़िवादी, युग के पीछे, स्वार्थी, अहंवादी, पंथ-मतवादी, भाग्यवादी, कालवादी, आलसी/अकर्मण्य, बाह्य-क्रियाकाण्डी तक ही रह गये हैं।

जिस प्रकार तन-मन-समय का दुरुपयोग सफलता के लिए बाधक है उसी प्रकार धन-साधन-उपकरण-प्राकृतिक संसाधन का दुरुपयोग भी सफलता के लिए बाधक है, प्रदूषण का कारक है, सामाजिक-राष्ट्रीय-वैश्विक-पर्यावरणीय असंतुलन के लिए कारण है।

फैशन-व्यसन-भोग-उपभोग-विलासिता-नशीली वस्तु में धन का प्रयोग के साथ-साथ शादी-विवाह, धार्मिक आडम्बरपूर्ण क्रियाकाण्ड में धन

का अनुचित प्रयोग भी धन का दुरुपयोग है। यान-वाहन-विद्युत-टी.वी.-ए.सी.-कंप्यूटर-मोबाइल-वस्त्र-प्रसाधन सामग्री-जूते-चप्पल आदि के अति प्रयोग (या अयोग्य प्रयोग भी) से धन, समय का अपव्यय होता है, प्रदूषण फैलता है, प्रकृति का दोहन-शोषण होता है, शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य खराब होता है, दूसरे उपभोक्ताओं को उन सबके प्रयोग में उपलब्धता में कमी होती है या समस्या उत्पन्न होती है, महंगाई बढ़ती है। पानी, लकड़ी, खनिज वस्तु (सोना, चांदी, मार्बल, कोयला, लोहा, पेट्रोल, डीजल, रसायन, गैस आदि) आदि के अति प्रयोग से प्रकृति के दोहन-शोषण होता है, प्रदूषण बढ़ता है, पृथ्वी का तापमान बढ़ता है जिससे ओजोन परत में छेद होता है, ग्लेशियर पिघलता है, अतिवृष्टि-अनावृष्टि-बाढ़ का प्रकोप होता है, चक्रवात आता है, भूकंप-सुनामी आता है, पृथ्वी का जल-स्तर घटता है, महामारी फैलती है, जंगल कटते हैं जिससे वन्य जंतु-पशु-पक्षी-वनस्पति-औषधि प्रजातियों का लोप होता है, जंगल के प्राकृतिक निवास के अभाव से वे मानव के निवास स्थान ग्राम आदि में घुसपैठ करके उन्हें क्षति पहुँचाते हैं, फसल-गृहपालित पशु-पक्षी को क्षति पहुँचाते हैं, खा लेते हैं। इतना ही नहीं उपर्युक्त अनर्थदण्ड (अतिप्रयोग, अन्यथा प्रयोग) के कारण ज्यादा परिग्रह (उपकरण, संसाधन) की आवश्यकता पड़ती है जिसकी आपूर्ति के लिए ज्यादा उत्पादन, ज्यादा प्रकृति का दोहन-शोषण, निर्माण, पैकिंग, परिवहन, क्रय-विक्रय होता है। इसके लिए भी फैक्ट्री, रेल लाईन, रोड, जलपोत, हवाईजहाज की आवश्यकता पड़ती है। इन सबसे भी उपर्युक्त अनर्थ उत्पन्न होते हैं। इन सब कारणों से शारीरिक-मानसिक-सामाजिक-पर्यावरणीय समस्या उत्पन्न होती है। इन सब कारणों से जैन धर्म अनर्थदण्ड को पाप (पतन के कारण) कहा है तो वैज्ञानिक उपर्युक्त दोषों के साथ-साथ आगामी छड़ा प्रलय भी मनुष्यकृत उपर्युक्त कारणों को मान रहे हैं।

अनर्थदण्ड के भेद-प्रभेद

उपकार न होकर जो प्रवृत्ति केवल पाप का कारण है वह अनर्थदण्ड है, इससे विरत होना अनर्थदण्ड विरति है।

अनर्थदण्ड के 5 भेद हैं— 1. अपध्यान, 2. पापोपदेश, 3. प्रमादचर्या, 4. हिंसा प्रदान, 5. अशुभश्रुति।

(I) अपध्यान-‘दूसरे की जय-पराजय, वध, बंध, अंगच्छेद, धन-हरण

- आदि कैसे हो' इत्यादि मन के द्वार चिंतन करना अपध्यान है।
- (II) क्लेशवाणिज्य, तिर्यग्वाणिज्य, वधकोपदेश और आरंभोपदेश आदि पापोपदेश हैं।
- (A) क्लेशवाणिज्य—जैसे इस देश में दासी—दास सुलभ हैं, उनको अमुक देश में ले जाकर विक्रय करने पर प्रचुर अर्थ—लाभ होता है 'इत्यादि पापसंयुक्त वचन बोलना' क्लेशवाणिज्य पापोपदेश है।
- (B) तिर्यग्वाणिज्य—'गाय—मैंस आदि पशुओं को इस देश से ले जाकर अन्य देश में बेचने पर बहुत धन लाभ होगा' इत्यादि पशुओं के व्यापार का मार्ग बताना तिर्यग्वाणिज्य है।
- (C) वधकोपदेश—वागुरिक (शिकारी), सौकरिक (वधिक), शाकुनिक (पक्षियों को पकड़ने वाले) आदि व्यक्तियों को 'हिरण, सूअर, पक्षी आदि प्राणी इस देश में क्षेत्र—पर्वत आदि पर बहुत रहते हैं' इत्यादि वचनों के द्वारा शिकार के योग्य प्राणियों का स्थान आदि बताना वधकोपदेश है।
- (D) आरम्भोपदेश—आरंभ कार्य करने वाले किसान आदि को भूमि, नीर, अग्नि, पवन और वनस्पति आदि के आरंभ छेदन—भेदन आदि के उपाय आरंभोपदेश है। इस प्रकार और भी पाप संयुक्त वचन या पापवर्धक वचन हैं, वे सब पापोपदेश हैं।
- (III) प्रमादचर्या—प्रयोजन बिना वृक्षादि का छेदना, भूमि को कूटना, पानी सींचना आदि सावद्य कर्म प्रमादचर्या है।
- (IV) हिंसा प्रदान दोष—विष, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, कशा (कोङ) और दण्ड (डण्डा, लाठी) आदि हिंसा के उपकरणों को देना हिंसा—प्रदान दोष है।
- (V) अशुभ श्रुति—हिंसा, राग, काम आदि की वृद्धि करने वाली दुष्ट कथाओं का सुनना और दूसरों को सिखाना आदि व्यापार अशुभ श्रुति है। मध्य में अनर्थदण्ड का ग्रहण पूर्वोत्तर अतिरेक के आनर्थक्य के ज्ञापनार्थ है। पूर्व में कहे गये दिग्ब्रत और देशब्रत तथा आगे कहे जाने वाले उपभोग परिभोग परिणामब्रत में अवधृत मर्यादा में भी निष्प्रयोजन गमन आदि तथा मर्यादित विषयों का भी सेवन आदि नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अतिरेक

निवृति की सूचना देने के लिए मध्य में अनर्थदण्ड वचन को ग्रहण किया है।

अनर्थदण्डब्रत के अतिचार

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि । (32)

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, और उपभोग परिभोगानर्थक्य ये अनर्थदण्डब्रित ब्रत के पाँच अतिचार हैं।

कन्दर्प—रागोद्रेक से प्रहासमिश्रित अशिष्ट वचनों का प्रयोग करना कन्दर्प है। चारित्र मोह के उदय से अप्रादित राग के उद्रेक से हास्ययुक्त वचनों का प्रयोग करना कन्दर्प कहा जाता है।

कौत्कुच्य—हास्य वचन और राग का उद्रेक—इन दोनों के साथ काय की दुष्ट चेष्टा करना कौत्कुच्य है। इन चेष्टाओं में राग का समावेश होने से हास्य वचन और अशिष्ट वचन इन दोनों के साथ शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है। अर्थात् काय की कुचेष्टाओं के साथ होने वाला हास्य और अशिष्ट प्रयोग कौत्कुच्य है।

मौखर्य—धृष्टतापूर्वक यदा—तदा बहुप्रलाप करना मौखर्य है। शालीनता का त्याग कर निर्लज्जतापूर्वक बकवास करना मौखर्य है ऐसा जानना चाहिए।

असमीक्ष्याधिकरण—मन, वचन और काय के भेद से अधिकरण तीन प्रकार का है।

मानस अधिकरण—निरर्थक काव्य का चिंतन मानस अधिकरण है।

कायिक अधिकरण—बिना प्रयोजन चलते हुए, ठहरते हुए, बैठते हुए, सचित एवं अचित पत्र, पुष्प, फलों का छेदन—भेदन, कुट्टन, क्षेपण आदि करना, अग्नि, विष क्षार आदि पदार्थ देना आदि जो क्रिया की जाती है वह कायिक अधिकरण है। ये सर्व असमीक्ष्याधिकरण हैं अर्थात् मन—वचन—काय की निष्प्रयोजन चेष्टा असमीक्ष्याधिकरण है।

भोगोपभोगानर्थक्य—जितनी भोगोपभोग सामग्री से काम चल सकता है उससे अधिक निष्प्रयोजन सामग्री को आनर्थक्य कहते हैं। भोगोपभोग सामग्री का आनर्थक्य भोगोपभोगानर्थक्य कहलाता है।

आवश्यक कर्तव्य के 32 दोष

1. अनाहत—बिना आदर के या बिना उत्साह के जो क्रियाकर्म (आवश्यक

- कर्म) किया जाता है वह अनादृत कहलाता है। यह अनादृत नाम का पहला दोष है।
2. स्तब्ध—विद्या आदि के गर्व से उद्धत—उद्दंड होकर जो क्रियाकर्म किया जाता है वह स्तब्ध दोष है।
 3. प्रविष्ट—पंचपरमेष्ठी के अति निकट होकर जो कृतिकर्म (आवश्यक कर्म) किया जाता है वह प्रविष्ट दोष है।
 4. परिपीड़ित—हाथ से घुटनों को पीड़ित—स्पर्श करके जो आवश्यक कर्म करता है उसके परिपीड़ित दोष होता है।
 5. दोलायित—झूला के समान अपने को चलाचल करके अथवा सोकर (या नींद से झुमते हुए) जो वंदना (आवश्यक कर्म) करता है उसके दोलायित दोष होता है।
 6. अंकुषित—अंकुश के समान हाथ के अंगूठे का ललाट पर रखकर जो वंदना (आवश्यक कर्म) करता है, उसके अंकुषित दोष होता है।
 7. कच्छपरिंगित—कछुए के समान चेष्टा करके कटिभाग से सरककर जो वंदना (आवश्यक कर्म) करता है उसके कच्छपरिंगित दोष होता है।
 8. मत्स्योद्वर्त—दो पसवाड़ों से वंदना करना अथवा मत्स्य के समान कटिभाग को ऊपर उठाकर (या पलटकर) जो वंदना (आवश्यक कर्म) करता है उसके मत्स्योद्वर्त दोष होता है।
 9. मनोदुष्ट—मन से आचार्य आदि के प्रति द्वेष धारण करके जो वंदना (आवश्यक कर्म) करता है, अथवा संक्लेश युक्त मन से जो वंदना करता है उसके मनोदुष्ट नाम का दोष होता है।
 10. वेदिकाबद्ध—वेदिका के आकार रूप से दोनों हाथों को बाँधकर हाथ पंजर से वाम—दक्षिण स्तन प्रदेश को पीड़ित करके या दोनों घुटनों को बाँध करके वंदना (आवश्यक कर्म) करना वेदिकाबद्ध दोष है।
 11. भय—भय से अर्थात् मरण आदि से भयभीत होकर या भय से घबराकर वंदना (आवश्यक कर्म) करना, भय दोष है।
 12. विभ्यत्त्व—गुरु आदि से डरते हुए या परमार्थ से परे बालक—स्वरूप परमार्थ के ज्ञान से शून्य अज्ञानी हुए वंदना, करना विभ्यत् दोष है।
 13. ऋद्धिगौरव—वंदना (आवश्यक कर्म) को करने से महापरिकर वाला

- चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ मेरा भक्त हो जावेगा इस अभिप्राय से जो वंदना करता है, उसके ऋद्धिगौरव दोष होता है।
14. गौरव—अपना माहात्म्य आसन आदि के द्वारा प्रकट करके या रस के सुख के लिए जो वंदना (आवश्यक कर्म) करता है, उसके गौरव नाम का दोष होता है।
 15. स्तेनित—जिस प्रकार से गुरु आदि न जान सके ऐसी चोर बुद्धि से या कोठरी में प्रवेश करके वंदना करना या अन्य जनों से आँखें चुराकर अर्थात् नहीं देख सके ऐसे स्थान में वंदना (आवश्यक कर्म) करना सो स्तेनित दोष है।
 16. प्रतिनीत—गुरु आदि के प्रतिकूल होकर जो वंदना (आवश्यक कर्म) करता है उसके प्रतिनीत दोष होता है।
 17. प्रदुष्ट—अन्य के साथ प्रदेष—बैर कलह आदि करके पुनः उनसे क्षमाभाव न कराकर जो क्रियाकलाप करता है उसके प्रदुष्ट होता है।
 18. तर्जित—अन्यों की तर्जना करते हुए अर्थात् अन्य साधुओं को भय उत्पन्न करते हुए यदि वंदना करता है, अथवा आचार्य आदि के द्वारा अंगुली से तर्जित—शासित दंडित होता हुआ “यदि तुम नियम आदि क्रियाएं नहीं करोगे तो हम तुम्हें संघ से निकाल देंगे।” ऐसी आचार्यों की फटकार सुनकर जो वंदना करता है उसको तर्जित दोष होता है।
 19. शब्द—मौन को छोड़कर शब्द बोलते हुए जो वंदना आदि करता है उसके शब्द दोष होता है। अथवा “संद्वच” ऐसा पाठ भेद होने से उसका ऐसा अर्थ करना कि शठता से, माया प्रपञ्च से जो वंदना करता है, उसके शार्दूल दोष होता है।
 20. हीलित—वचन से आचार्य आदिकों का तिरस्कार करके जो वंदना (आवश्यक कर्म) करता है उसके हीलित दोष होता है।
 21. त्रिवलित—शरीर के कटि, हृदय और ग्रीवा इन तीन स्थानों में भंग डालकर अर्थात् कमर, हृदय और गर्दन को मोड़कर वंदना करना त्रिवलित दोष है।
 22. कुचित—संकुचित किये हाथों से सिर का स्पर्श करते हुए जो वंदना

- (आवश्यक कर्म) करता है, या घुटनों के मध्य सिर को रखकर वंदना (आवश्यक कर्म) करता है उसके संकुचित दोष होता है।
23. दृष्ट—आचार्यादि यदि देख रहे हैं तो सम्यक् विधान से वंदना (आवश्यक कर्म) आदि करता है अन्यथा स्वेच्छानुसार करता है अथवा दिशाओं का अवलोकन करते हुए यदि वंदना (आवश्यक कर्म) करता है तो उसे दृष्ट दोष होता है।
24. अदृष्ट—आचार्य आदिकों पृथक्—पृथक् न देखकर भूमि प्रदेश और शरीर का पिछी से परिमार्जन न करके वंदना (आवश्यक कर्म) की क्रिया और पाठ में उपयोग न लगाते हुए अथवा गुरु आदि के पृष्ठ देश में उनके पीछे पीछे होकर जो वंदना करता है उसके अदृष्ट दोष होता है।
25. संघकरमोचन—संघ को मायाकर—वृष्टि अर्थात् कर भाग देना चाहिए अन्यथा मेरे प्रति संघ शुभ नहीं रहेगा। अर्थात् संघ रूप्त हो जावेगा ऐसा समझकर जो वंदना आदि करता है, उसके आलस्य दोष होता है।
26. आलब्ध—उपकरण आदि प्राप्त करके जो वंदना करता है, उसके आलब्ध दोष होता है।
27. अनालब्ध—‘उपकरणादि मुझे मिले’ ऐसी बुद्धि से यदि वंदना (आवश्यक कर्म) आदि करता है तो उसके अनालब्ध दोष होता है।
28. हीन—ग्रंथ, अर्थ और काल के प्रमाण से रहित जो वंदना (आवश्यक कर्म) करता है, उसके हीन दोष होता है, अर्थात् वंदना (आवश्यक कर्म) संबंधी पाठ के शब्द जितने हैं उतने पढ़ना चाहिए। उनका अर्थ ठीक समझते रहना चाहिए और जितने काल में उनको पढ़ना है उतने काल में ही पढ़ना चाहिए इसके अतिरिक्त जो इन प्रमाणों को कम कर देता है, जल्दी—जल्दी पाठ पढ़ लेता है इत्यादि उसके हीन दोष होता है।
29. उत्तरचूलिका—वंदना का पाठ थोड़े ही काल के पढ़कर वंदना की चूलिका भूत आलोचना आदि को बहुत काल तक पढ़ते हुए जो वंदना करता है उसके उत्तरचूलिका दोष होता है। अर्थात् “जयतु भगवान् हेमाम्भोज” इत्यादि भवित पाठ जल्दी पढ़कर “इच्छामि भंते चेइयभवित” इत्यादि चूलिका रूप आलोचनादि पाठ को बहुत मंद गति से पढ़ना आदि उत्तरचूलिका दोष है।
30. मूक—गूंगे के समान मुख में ही जो वंदना का पाठ बोलता है, अथवा वंदना करने में “हुंकार” आदि शब्द करते हुए या अंगुली आदि से इशारा करते हुए जो वंदना करता है, उसके मूक दोष होता है।
31. दर्दुर—अपने शब्दों से दूसरे के शब्दों को दबाकर महाकलकल ध्वनि करते हुए ऊँचे स्वर से जो वंदना करता है, उसके दर्दुर दोष होता है।
32. चुलुलित—एक प्रदेश (स्थान) में खड़े होकर मुकुलित अंगुली को घुमाकर जो सभी की वंदना कर लेता है या जो पंचम आदि स्वर से वंदना पाठ करता है उसके चुलुलित दोष होता है।
यदि साधु इन बत्तीस दोषों से रहित कृतिकर्म का प्रयोग करता है, वंदना करता है तो वह विपुल कर्मों की निर्जरा करता है ऐसा समझना।
- किदियम्मपि करतो ण होदि किदयम्मणिज्जराभागी ।
बत्तीसाणण्णदरं साहू ठाणं विराहंतो ॥६१०॥ (मूलाचार)
- इन बत्तीस स्थानों में से एक भी स्थान की विराधना करता हुआ साधु कृतिकर्म करते हुए भी कृतिकर्म से होने वाली निर्जरा को प्राप्त नहीं होता है।
- इन बत्तीस दोषों में से किसी एक भी दोष को करते हुए यदि साधु क्रियाकर्म—वंदना करता है तो कृतिकर्म को करते हुए भी उस कृतिकर्म के द्वारा होने वाली निर्जरा का स्वामी नहीं हो सकता है। अथवा इन बत्तीस दोषों में से किसी एक दोष के द्वारा होने वाली निर्जरा का स्वामी नहीं हो सकता है। अथवा इन बत्तीस दोषों में से किसी एक दोष के द्वारा स्थान अर्थात् कार्योत्सर्ग आदि क्रियारूप वंदना की विराधना कर देता है।
- तथा बत्तीस दोषों के परिहार से बत्तीस ही गुण होते हैं तथा उन गुणों सहित, यज्ञ में तत्पर मुनि वंदना करे। हास्य, भय, अवसादना, राग, द्वेष, गौरव, आलस्य, मद, लोभ, चौर्य भाव, प्रतिकूलता, बालभाव, उपरोध—दूसरों को रोकना, हीन या अधिक पाठ, शरीर का स्पर्श करना, वचन बोलना, भृकुटी घढ़ना, सत्कार—खाँसना, खखारना—इत्यादि दोषों को छोड़ वंदना करे। जिनकी वंदना कर रहे हैं ऐसे देव गुरु आदि में अपने मन को लगाकर अर्थात् उनसे गुणों में अपने उपयोग को लगाते हुए, अन्य काम को छोड़कर वंदना

करने वाले को विशुद्ध मन—वचन—कार्य के द्वारा मौनपूर्वक वंदना करना चाहिए।

कायोत्सर्ग (साधनावस्था) का स्वरूप एवं उसके 32 दोष

कायोत्सर्ग करने पर जैसे अंग—उपांगों की संधियाँ भिद जाती हैं। वैसे ही कायोत्सर्ग के करने से कर्मरज अलग हो जाती है।

कायोत्सर्ग में हलन—चलन रहित शरीर के स्थिर होने से जैसे शरीर के अवयव भिद जाते हैं वैसे ही कायोत्सर्ग के द्वारा कर्मधूलि भी आत्मा से पृथक् हो जाती है।

बल—वीर्य, क्षेत्र, काल और शरीर के सहनन का आश्रय लेकर इन दोषों का परिहार करते हुए साधु कायोत्सर्ग करें।

औषधि और आहार आदि से हुई शक्ति को बल कहते हैं तथा वीर्यान्तराय के क्षय पश्चम की शक्ति को वीर्य कहते हैं। इन बल और वीर्य को देखकर तथा क्षेत्रबल और कालबल का भी आश्रय लेकर व्याधि से रहित शरीर एवं वज्रवृषभनाराच आदि संहनन की भी अपेक्षा करके साधु कायोत्सर्ग करें तथा आगे कहे जाने वाले दोषों का परिहार करते हुए कायोत्सर्ग धारण करें। अर्थात् अपनी शरीर शक्ति, क्षेत्र, काल आदि को देखकर उनके अनुरूप कायोत्सर्ग करें। अधिक शक्ति होने से अधिक समय तक कायोत्सर्ग में स्थिति रह सकती है अतः अपनी शक्ति को न छिपाकर कायोत्सर्ग करें।

18 दोष—घोटक, लता, स्तम्भ, कुड़य, माला, शबरवधू, निगड़, लम्बोत्तर, स्तनदृष्टि, वायस, खलिन, युग और कपित्थ—ये तेरह दोष हुए।

शोश—प्रकम्पित, मूकत्व, अंगुलि, भ्रूविकार और वारूणीपायी ये पाँच हुए, इस प्रकार इन अठारह दोषों का परिहार करें।

1. घोटक—घोड़ा जैसे एक पैर को उठाकर अथवा झुकाकर खड़ा होता है उसी प्रकार से जो कायोत्सर्ग में खड़े होते हैं उनके घोटक सदृश यह घोटक नाम का दोष होता है।
2. लता—लता के समान अंगों को हिलाता हुआ जो कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं उनके यह लता दोष होता है।
3. स्तम्भ—जो खम्भे का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करते हैं अथवा स्तम्भ के समान शून्य हृदय होकर करते हैं उसके साहचर्य से यह वही दोष

हो जाता है अर्थात् उनके यह स्तम्भ दोष होता है।

4. कुड़य—मित्ती—दीवाल का आश्रय लेकर जो कायोत्सर्ग से स्थित होते हैं उनके यह कुड़य दोष होता है। अथवा साहचर्य से यह उपलक्षण मात्र है। इससे अन्य का भी आश्रय लेकर नहीं खड़े होना चाहिए ऐसा सूचित होता है।
5. माला—माला—पीठ—आसन आदि के ऊपर खड़े होना अथवा सिर के ऊपर कोई रज्जू वगैरह का आश्रय लेकर अथवा सिर के ऊपर जो कुछ वहाँ हो, फिर भी कायोत्सर्ग करना वह मालादोष है।
6. शबरवधू—भिल्लनी के समान दोनों जंघाओं से जंघाओं को पीड़ित करके जो कायोत्सर्ग से खड़े होते हैं उनके यह शबरवधू नाम का दोष है।
7. निगड़—बेड़ी से पीड़ित हुए के समान पैरों में बहुत सा अंतराल करके जो कायोत्सर्ग में खड़े होते हैं उनके निगड़ दोष होता है।
8. लम्बोत्तर—नाभि से ऊपर का भाग लंबा करके कायोत्सर्ग करना अथवा कायोत्सर्ग में स्थित होकर शरीर को अधिक ऊँचा करना या अधिक झुकाना सो लम्बोत्तर दोष है।
9. स्तनदृष्टि—कायोत्सर्ग में स्थित होकर जिसकी दृष्टि अपने स्तनभाग पर रहती है उसके स्तनदृष्टि नाम का दोष होता है।
10. वायस—कायोत्सर्ग में स्थित होकर कौवे के समान जो पाश्व भाग को देखते हैं उनके वायस दोष होता है।
11. खलीन—लगाम से पीड़ित हुए घोड़े के समान दाँत कटकटाते हुए मस्तक को करके जो कायोत्सर्ग करते हैं उनके खलीन दोष होता है।
12. युग—जूआ से पीड़ित हुए बैल के समान गर्दन पसार कर जो कायोत्सर्ग से स्थित होते हैं उनके यह युग नाम का दोष होता है।
13. कपित्थ—जो कपित्थ—कैथे के फल के समान मुट्ठी को करके कायोत्सर्ग में स्थित होते हैं उनके यह कपित्थ दोष होता है।
14. शिरःप्रकंपित—कायोत्सर्ग में स्थित हुए जो शिर को कंपाते हैं उनके शिरःप्रकंपित दोष होता है।

15. मूकत्व—कायोत्सर्ग में स्थित होकर जो मूक के समान मुखविकार व नाक सिकोड़ना करते हैं उनके मूकित नाम का दोष होता है।
16. अंगुलि—जो कायोत्सर्ग में स्थित होकर अंगुलियों से गणना करते हैं उनके अंगुलि दोष होता है।
17. भ्रूविकार—जो कायोत्सर्ग में खड़े हुए भौहों को चलाते हैं या पैरों की अंगुलियाँ नचाते हैं उनके भ्रूविकार दोष होता है।
18. वारुणीपायी—मदिरापायी के समान झूमते हुए जो कायोत्सर्ग करते हैं उनके वारुणीपायी दोष होता है।
- 19 से 28. दिशा अवलोकन—कायोत्सर्ग में स्थित हुए दिशाओं का अवलोकन करना। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊर्ध्व और अधः। इन दस दिशाओं के निमित्त से दस दोष हो जाते हैं। ये दिशावलोकन दोष हैं।
29. ग्रीवान्नमन—कायोत्सर्ग में स्थित होकर गर्दन को अधिक ऊँची करना यह ग्रीवा उन्नमन दोष है।
30. प्रणमन—कायोत्सर्ग में स्थित हुए गर्दन को अधिक झुकाना या प्रणाम करना प्रणमन दोष है।
31. निष्ठीवन—कायोत्सर्ग में स्थित होकर खखारना, थूकना यह निष्ठीवन दोष है।
32. अंगामर्श—कायोत्सर्ग में स्थित होकर शरीर का स्पर्श करना यह अंगामर्श दोष है।

कायोत्सर्ग करते समय इन बत्तीस दोषों का परिहार करना चाहिए और जिन विशेषताओं से यथोक्त कायोत्सर्ग को करते हैं उन्हें ही बताते हैं—

धीर मुनि मायाचार रहित, विशेष सहित, बल के अनुरूप और उम्र के अनुरूप कायोत्सर्ग को दुःखों के क्षय हेतु करते हैं।

धीर मुनि दुःखों का क्षय करने के लिए, माया प्रपंच से रहित, विशेषताओं से सहित, अपनी शक्ति के अनुरूप और अपनी बाल, युवा या वृद्धावस्था के अनुरूप तथा अपने वीर्य के अनुरूप एवं काल के अनुरूप कायोत्सर्ग को करते हैं।

मायाचारी—

जो साधु तीस वर्ष की वय वाला है पुनः सत्तर वर्ष वाले के कायोत्सर्ग से समानता करता है वह विषम है, कूटवादी, अज्ञानी और मूढ़ है।

जो मुनि तीस वर्ष की उम्रवाला है—युवावस्था में स्थित है, शक्तिमान है फिर भी यदि वह सत्तर वर्ष की आयु वाले वृद्ध ऐसे आशक्त मुनि के कायोत्सर्ग आदि की समाप्ति रूप अनुष्ठान के साथ बराबरी करता है अर्थात् आप शक्तिमान होकर भी अशक्त मुनि के साथ स्पर्द्धा करता है वह साधु विषम—शांतरूप नहीं है, माय प्रपंच में तत्पर है, निर्विज्ञानी—विज्ञान रहित और चारित्र रहित है तथा मूर्ख है। न उसका इहलोक ही सुधरता है और न परलोक ही सुधरता है। अर्थात् अपनी—अपनी शक्ति के अनुसार कायोत्सर्ग आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करना चाहिए। वृद्धावस्था में शक्ति के छास हो जाने से स्थिरता कम हो जाती है किन्तु युवावस्था में प्रत्येक अनुष्ठान विशेष और अधिक हो सकते हैं।

कायोत्सर्ग के भेद—

उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविष्टनिविष्ट ऐसे चार भेदरूप कायोत्सर्ग होता है।

उत्थितोत्थित—दोनों प्रकार से खड़े होकर जो कायोत्सर्ग होता है अर्थात् जिसमें शरीर से भी खड़े हुए हैं और परिणाम भी धर्म या शुक्ल ध्यान रूप है यह कायोत्सर्ग महान् से भी महान् है।

पूर्व में उत्थित और पश्चात् निविष्ट अर्थात् कायोत्सर्ग में शरीर से तो खड़े हैं फिर भी भावों से बैठे हुए हैं अर्थात् आर्त या रौद्रध्यान रूप भाव कर रहे हैं, इनका कायोत्सर्ग उत्थित—निविष्ट कहलाता है। जो बैठे हुए भी खड़े हुए हैं अर्थात् बैठकर पद्मासन से कायोत्सर्ग करते हुए भी जिनके परिणाम उज्ज्वल हैं उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्टोत्थित है तथा जो शरीर से भी बैठे हुए हैं और भावों से भी, उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्टनिविष्ट कहलाता है। इस तरह कायोत्सर्ग के चार विकल्प हो जाते हैं।

प्रकीर्णक

कार्य-संचालन

1. किसी निश्रय पर पहुँचना यही विचार का उद्देश्य है और जब किसी बात का निश्रय हो गया तब उसको कार्यरूप में परिगत करने में विलंब करना भूल है।
2. जिन कामों को सावकाश होकर कर सकते हो उनको तुम पूर्णरीति से सोच-विचार कर करो, किन्तु तत्कालोचित कार्यों के लिए तो क्षण भर भी देर न करो।
3. यदि परिस्थिति अनुकूल हो तो सीधे अपने लक्ष्य की ओर चलो, किन्तु परिस्थिति अनुकूल न हो तो उस मार्ग का अनुसरण करो जिसमें सबसे कम बाधाएँ आने की संभावना हो।
4. अधूरा काम और अपराजित शत्रु ये दोनों बिना बुझी आग की चिनगारियों के समान हैं, वे समय पाकर बढ़ जायेंगे और उस असावधान आदमी को आ दवोचेंगे।
5. प्रत्येक कार्य को करते समय पाँच बातों का पूरा ध्यान रखो अर्थात् उपस्थित साधन, औजार, कार्य का स्वरूप, समुचित समय और कार्य करने का उपयुक्त स्थान।
6. काम करने में कितना परिश्रम करना पड़ेगा, मार्ग में कितनी बाधाएँ आयेंगी और फिर कितनी लाभ की आशा है, इन बातों को पहिले सोच लो, पीछे किसी काम को हाथ में लो।
7. किसी भी काम में सफलता प्राप्त का यही मार्ग है कि जो मनुष्य उस काम में दक्ष है उससे उस काम का रहस्य मालूम कर लेना चाहिए।
8. लोग एक हाथी के द्वारा दूसरे हाथी को फँसाते हैं, ठीक इसी प्रकार एक काम को दूसरे काम का साधन बना लेना चाहिए।

सम्यता

हास्य-परिहास में भी कटुवचन मनुष्य के मन में लग जाते हैं, इसलिए सुपात्र पुरुष अपने वैरियों के साथ भी असम्यता से नहीं बोलते।

सुसंस्कृत मनुष्यों के अस्तित्व के कारण ही जगत् के सब कार्य निर्वन्दरूप से चल रहे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं, यदि ये आर्य पुरुष न होते तो यह अक्षुण्य-साम्य और स्वारस्य मृतप्रायः होकर धूल में मिल जाता।

7. रेती तीक्ष्ण भी हो पर वह युद्ध में लाठी से बढ़कर नहीं हो सकती, ठीक इसी प्रकार आचरणहीन मनुष्य विद्वान् भी हो फिर भी वह सदाचारी से बढ़कर नहीं।
8. अविनय मनुष्य को शोभा नहीं देती चाहे अन्यायी और विपक्षी पुरुष के प्रति ही उसका व्यवहार क्यों न हो।
9. जो लोग मन से प्रसन्न नहीं हो सकते, उन्हें इस विशाल लंबे चौड़े संसार में, दिन के समय भी अंधकार के सिवाय और कुछ दिखाई न देगा।
10. निकृष्ट-प्रकृति पुरुष के हाथ में जो संपत्ति होती है वह उस दूध के समान है जो अशुद्ध, मैले बर्तन में रखने से बिगड़ गया हो।

लज्जाशीलता

5. जो लोग दूसरों का अपमान देखकर भी उतने ही लज्जित होते हैं जितने कि स्वयं अपने अपमान से, उन्हें तो लोग लज्जा और संकोच की मूर्ति ही समझेंगे।
6. जिन लोगों में लज्जा की सुकोमल भावना है वे अपने को अपमान से बचाने के लिए अपनी जान तक दे देंगे और प्राणों पर आ बनने पर भी लज्जा को नहीं त्यागेंगे।
7. ऐसे साधनों के सिवाय कि जिनसे उन्हें लज्जित न होना पड़े अन्य साधनों के द्वारा, लायक लोग राज्य तक पाने के लिए ना ही कर देंगे।
8. यदि कोई आदमी उन बातों से लज्जित नहीं होता है कि जिनसे दूसरों को लज्जा आती है, तो उसे देखकर भद्रता भी शरमा जाएगी।
9. कुलाचार को भूल जाने से मनुष्य केवल अपने कुल से ही भ्रष्ट होता है, लेकिन जब वह लज्जा को भूलकर निर्लज्ज हो जाता है तब सब प्रकार की भलाइयाँ उसे छोड़ देती हैं।

- जिन लोगों की आँख का पानी मर गया है वे जीवित होकर भी मरे के समान हैं। डोरी के द्वारा चलने वाली कठपुतलियों की तरह उनमें भी एक प्रकार का कृत्रिम जीवन ही होता है।

भ्रष्ट जीवन

- जब कोई दुष्ट मनुष्य ऐसे आदमी से मिलता है जो दुष्टा में उससे कम है तो वह अपने बढ़े-चढ़े दुष्कृत्यों का वर्णन उसके सामने बड़े मान से करता है।
- दुष्ट लोग केवल भय के मारे ही सन्मार्ग पर चलते हैं और या फिर इसलिए कि ऐसा करने से उन्हें कुछ लाभ की आशा हो।
- पतित जन ढिंढोरे के ढोल के समान होते हैं क्योंकि उनको जो गुप्त बातें विश्वास रखकर बताई जाती हैं, उन्हें दूसरों में प्रगट किये बिना उनको चैन ही नहीं पड़ती।
- नीच प्रकृति के आदमी उन लोगों के सिवाय कि जो धूंसा मारकर उनका जबड़ा तोड़ सकते हैं और किसी के आगे भोजन से सने हुए हाथ झटक देने में भी आनाकानी करेंगे।
- लायक लोगों के लिए तो केवल एक शब्द ही पर्याप्त है, पर नीच लोग गन्ने की तरह खूब कूटने-पिटने पर ही देने को राजी होते हैं।
- दुष्ट मनुष्य ने अपने पड़ौसी को जरा खुशहाल और खाते-पीते देखा नहीं कि वह तुरन्त ही उसके चाल-चलन में दोष निकालने लगता है।

चुगली से धृणा

- सत्कर्म से विमुख हो जाना और कुकर्म करना निस्संदेह बुरा है पर मुख पर हँसकर बोलना और पीठ पीछे निन्दा करना उससे भी बुरा है।
- झूठ और चुगली के द्वारा जीवन व्यतीत करने से तो तत्काल ही मर जाना अच्छा है, क्योंकि इस प्रकार मर जाने से शुभकर्म का फल मिलेगा।
- पीठ पीछे किसी की निन्दा न करो, चाहे उसने तुम्हारे मुख पर ही तुम्हें गाली दी हो।

- मुख से चाहे कोई कितनी ही धर्म-कर्म की बातें करे पर उसकी चुगलखोर जिहवा उसके हृदय की नीचता को प्रकट कर ही देती है।
- यदि तुम दूसरों की चुगली करोगे तो वह तुम्हारे दोषों को खोजकर उनमें से बुरे से बुरे दोषों को प्रकट कर देगा।
- जो मधुर वचन बोलना और मित्रता करना नहीं जानते वे चुगली करके फूट का बीज बोते हैं और मित्रों को एक-दूसरे से जुदा कर देते हैं।
- जो लोग अपने मित्रों के दोषों को स्पष्ट रूप से सबके सामने कहते हैं, वे अपने वैरियों के दोषों को भला कैसे छोड़ेंगे।

व्यर्थ भाषण

- निरर्थक शब्दों से जो अपने श्रोताओं में उद्वेग लाता है वह सब के तिरस्कार का पात्र है।
- अपने मित्रों को दुःख देने की अपेक्षा भी अनेक लोगों के आगे व्यर्थ की बकवास करना बहुत बुरा है।
- जो निरर्थक शब्दों का आडम्बर फैलाता है वह अपनी अयोग्यता को ऊँचे स्वर से घोषित करता है।
- सभा में जो व्यर्थ की बकवास करता है, उस मनुष्य को देखो, उसे और कुछ तो लाभ होने का नहीं, पर जो कुछ उसके पास अच्छी बातें होंगी वे भी छोड़कर चली जाएंगी।
- यदि व्यर्थ की बकवास अच्छे लोग भी करने लगेंगे तो वे भी अपने मान और आदर को खो बैठेंगे।
- जिसे निरर्थक बातों के करने की अभिरुचि है उसे मनुष्य ही न मानना चाहिए, कदाचित् उससे भी कोई काम आ पड़े तो समझदार आदमी उससे कचरे के समान ही काम ले लें।
- यदि समझदार को योग्य मालूम पड़े तो मुख से कठोर शब्द कह ले, क्योंकि यह निरर्थक भाषण से कहीं अच्छा है।
- जिनके विचार बड़े-बड़े प्रश्नों को हल करने में लगे रहते हैं ऐसे लोग विकाश के शब्द अपने मुख से निकालते ही नहीं।

9. जिनकी दृष्टि विस्तृत है वे भूलकर भी निरर्थक शब्दों का उच्चारण नहीं करते ।
10. मुख से निकालने योग्य शब्दों का ही तू उच्चारण कर, परन्तु निरर्थक अर्थात् निष्फल शब्द मुख से मत निकाल ।

आलस्य त्यागः

कालस्य यापनं निद्रा शैथिल्यं विस्मृतिस्तथा ।

उत्सवस्य महानावः सन्त्येता हतभागिनः ॥१५॥ (कुरल काव्य)

विनाश होना जिनके भाग्य में बदा है उनकी टालमटूल, विस्मृति, सुस्ती और निद्रा ये चार उत्सव नौकायें हैं ।

आलस्यनिरतो लोकः कृपां लब्ध्वापि भूपतेः । (कुरल काव्य)

कर्तुं समुन्नतिं नैव शक्रोति जगतीतले ॥१६॥

राजकृपा भी हो तो भी आलसी की उन्नति संभव नहीं है ।

येषामुदात्तकार्येषु व्यापारो नास्ति हस्तयोः ।

न्यक्कारं वा धृणां नित्यं सहन्ते ते प्रमादिनः ॥१७॥ (कुरल काव्य)

जो लोग आलसी हैं और महत्वपूर्ण कार्यों में अपना हाथ नहीं बटाते उनको संसार में निन्दा और धिक्कार सुनने ही पड़ेंगे ।

आलस्यमन्दिरं लोके जायते यत्कुटुम्बकम् ।

विपद्यते सपल्नानां क्षिप्रमेव करेषु तत् ॥१८॥

जिस कुटुम्ब में आलस्य घर कर लेता है वह कुटुम्ब शीघ्र ही शत्रुओं के हाथ में पड़ जायेगा ।

विपदुन्मुखोऽपि लोकोऽयं चेत् स्याद् विगतालसः ।

स्तम्भन्ति तर्हि तत्रैवायान्तोऽपि क्रूरसंकटाः ॥१९॥

कभी किसी मनुष्य पर कुछ संकट आते हो और यदि वह उसी समय आलस्य का त्याग कर देवे तो वे संकट भी वहीं ठिक जावेंगे ।

दोष निवारण के लिए आलोचना

बन्दौ पाँचों परम गुरु, चौबीसों जिनराज ।

करुँ शुद्ध आलोचना, शुद्धि करन के काज ॥

सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये अतिभारी ।

तिनकी अब निर्वृति काजा, तुम शरन लही जिनराजा ॥

इक बे ते चउ इन्द्री वा, मन रहित सहित जे जीवा ।

तिनकी नहीं करुणाधारी, निरदई है धात विचारी ॥

समरंभ समारंभ आरंभ, मन, वच, तन कीने प्रारंभ ।

कृत कारित मोदन करिकै, क्रोधादि चतुष्टय धरिकै ॥

शत आठजु इन भैदन ते, अघ कीने पर छेदन तै ।

तिनकी कहुँ कोलौं कहानी, तुम जानत केवल ज्ञानी ॥

हिंसा पुनि झूंठ जु चोरी, परवनितासों हग जोरी ।

आरंभ परिग्रह भीने, पन पापजु या विधि कीने ॥

सपरस रसना घानन को, द्रग कान विषय सेवन को ।

बहु करम किये मनमाने, कछु न्याय अन्याय न जाने ॥

फल पंच, उदंबर खाये, मधु मांस मद्य चित चाये ।

नहिं अष्ट मूल गुण धारे, सेये कुविसन दुःख कारे ॥

दुइबीस अभख जिन गाये, सो भी निशदिन भुंजाये ।

कछु भेदा भेद न पायो, ज्यौं त्यौं कर उदय भरायो ॥

निद्रा वश शयन कराया, सुपने मधि दोष लगाया ।

फिर जागि विषय वन धायो, नाना विधि विषफल खायो ॥

आहार निहार विहारा, इनमें नहीं जतन विचारा ।

बिन देखे धरा उठाया, बिन शोधा भोजन खाया ॥

तब ही परमाद सतायो, बहुविधि विकल्प उपजायो ।
 कछु सुधि बुधि नाहीं रही है, मिथ्या मति छाय गई है ॥
 मरजादा तुम ढिंग लीनी, ताहू में दोष जु कीनी ।
 भिन्न-भिन्न अब कैसे कहिये, तुम ज्ञान विषे सब पइये ॥
 हा हा मैं दुष्ट अपराधी, त्रस जीवन को जु विराधी ।
 थावर की जतन न कीनी, उर में करुणा नहीं लीनी ॥
 पृथ्वी बहु खोद कराई, महलादिक जागां चिनाई ।
 बिन गाल्यो पुलिजल ढोल्यो, पंखा तै पवन विलोल्यो ॥
 हा हा मैं अदयाचारी, बहु हरित जु काय विदारी ।
 या मधि जीवन के खंदा, हम खाये धरि आनंदा ॥
 हा हा परमाद बसाई, बिन देखे अगनि जलाई ।
 ता मध्य जीव जे आये, ते हू परलोक सिधायो ॥
 बीधो अन्न राति पिसायो, ईधन बिन शोधि जलायो ।
 झाडू ले जागा बुहारी, चिंटि आदिक जीव बिदारी ॥
 जल छानि जिवानी कीनी, सोह पुनि डारि जु दीनी ।
 नहिं जल थानक पहुँचाई, किरिया बिन पाप उपाई ॥
 जल, मल मोरिन गिरवायो, कृमिकुल बहुघात करायो ।
 नदियन बीच चीर धुवाये, कौसन के जीव मराये ॥
 अन्नादिक शोध कराई, ता मैं जु जीव निसराई ।
 तिनका नहिं जतन कराया, गलियारे धूप डराया ॥
 पुनि द्रव्य कमावन काजे, बहु आरम्भ हिंसा साजे ।
 कीये तिशनावश अघ भारी करुणा नहिं रंच विचारी ॥
 इत्यादिक पाप अनन्ता, हम कीजे श्री भगवन्ता ।

संतति चिरकाल उपाई, वाणी ते कहीं न जाई ॥
 ताको जु उदय अब आयो, नाना विधि मोहि सतायो ।
 फलभुंजत जिय दुख पावै, वचतै कैसे करि गावै ॥
 तुम जानत केवल ज्ञानी, दुःख दूर करो शिवथानी ।
 हम तो तुम शरन लही है, जिन तारन विरद सही है ॥

परिशिष्ट-१

Dated 14.11.08

Respected Prof. Dr. Narayanlalji Kachhara Shib
Udaipur

Sub. : Request for providing Blessing of Acharyashri Kanaknandi for my book (Enlightened Knowledge) under publication.

Respected Sir,

(Kindly find enclosed General Editorial of my book "Enlightened Knowledge" under publication consisting selected collection of research articles written by me inspiring for cultivating moral and human values like non-violence, truth, non-possession, non-absolutism, compassion, friendliness etc. This book will prove as milestone and road map to present day crying problems of globe such as-black hole in ozone layer of sky, terrorism, corruption, excessive use of environment, hate, intolerance etc.)

Please provide me Blessing of Acharyashri Kanaknandi for my said book under publication. I hope you will promote a scholar in writing solution of present day crying problems of the Globe, to my following Address and Fax No.:

Dr. Sohan Raj Tater
Convener, Parmarthik Shikshan Sanstha
Ladnun-341306, Dist.Nagaur (Raj.)
Fax No. : 01581-224305
e-mail:sohan_tater@yahoo.co.in
Thanks, with warm regards.

Your's Faithfully,

(Dr. Sohan Raj Tater)

Adviser, Jain Vishva Bharati University, Ladnun (Raj.)

रामप्रति—उपकुलपति, सिंघानिया विश्वविद्यालय, झुंझुनूं।

वर्षायोग—गुरु महिमा पर्व व वीर शासन जयंती के अवसर में

(जयधवला के नवीन संशोधित 16 भागों का शीघ्र

प्रकाशन एवं 11वीं वैज्ञानिक संगोष्ठी की घोषणा)

परम पूज्य ग्राम—संस्कृति—शिक्षा के उन्नायक संत आचार्यश्री कनकनंदीजी गुरुदेव (संसंघ) सान्निध्य में ग्राम रामगढ़ में उपर्युक्त निर्णय आचार्यश्री की दोनों संस्थाओं के प्रबुद्ध वैज्ञानिक, प्रोफेसर शिष्यों के सान्निध्य में लिया गया।

अमेरिका निवासी उदार ज्ञानदानी श्री नरेन्द्र कुमार एवं प्रकाश जैन पत्नी सुलोचना जैन के अर्थ सहयोग से जयधवला के 16 भागों का प्रकाशन व संपादन माँ भारती के लाडले सपूत्र प्रो. प्रभात कुमारजी जैन गाजियाबाद आचार्यश्री के व्यापक निर्देशन में करेंगे। यहाँ इस भवित ग्राम रामगढ़ में चल रहे त्रय दिवसीय पर्व श्रृंखला में ग्रामीण प्रगतिशील जनों द्वारा बाहर से पधारे अतिथियों के सान्निध्य में 11वीं वैज्ञानिक संगोष्ठी कराने की घोषणा की गई एवं आगन्तुक अतिथियों के लिए भोजनदान की घोषणा स्वप्रेरणा से की गई जिसकी संघ व ग्रामीणों ने सहर्ष अनुमोदना की।

प्रो. प्रभात जी द्वारा ताम्र पत्रों पर मुद्रित 'द्रव्य संग्रह' ग्रन्थ का विमोचन आचार्यश्री द्वारा किया गया एवं आगामी समय में समाधि—तंत्र व मोक्षशास्त्र का ताम्र पत्रों पर मुद्रण पूर्ण होगा।

इस ग्रामीण अंचल में वह रही ज्ञान गंगा से ग्रामवासी अभिभूत हैं एवं आगामी स्वाध्याय, वार्ता, शिविर, संगोष्ठी आदि गतिविधियों में सहभागी होने हेतु आतुर हैं। नर—नारी—आबाल—वृद्ध सभी सक्रिय हो रहे हैं।

डॉ. नारायणलाल जी कछारा एवं डॉ. सोहनराज जी तातेड़ (उपकुलपति) के स्वप्रेरित प्रयासों से आचार्यश्री का वृहत् साहित्य देश के विविध विश्वविद्यालयों में आचार्यश्री कनकनंदी साहित्य कक्षों में पहुँच रहा है एवं आगामी समय में अन्यान्य विश्वविद्यालयों में साहित्य कक्ष खुलने की उज्ज्वल संभावनाएँ हैं।

कछाराजी का आगामी कार्यक्रम विश्व धर्म सम्मेलन में आचार्यश्री प्रतिनिधि के रूप में जाने की संभावना है। अमेरिका में भी नरेन्द्र कुमारजी जिन मंदिर का निर्माण कर रहे हैं।

प्रस्तुति—मुनि सुविज्ञासागर,

संघस्थ आचार्यश्री कनकनंदीजी गुरुदेव

रामगढ़ वर्षायोग में

आगामी वैज्ञानिक संगोष्ठी

दिनांक 12 व 13 सितम्बर, 2009 हेतु

ग्रामीण अंचल उत्साहित

विषय : 1. वैज्ञानिक जैन अध्यात्म में निहित सफलता के बहुआयामी सूत्र, 2. जैन विज्ञान आधुनिक विज्ञान से परे।

परम पूज्य शिक्षा मनोवैज्ञानिक, धर्म—दर्शन—विज्ञान प्रवक्ता आचार्यश्री कनकनंदीजी गुरुदेव (संसंघ) की महत् प्रेरणा व सान्निध्य में 11वीं वैज्ञानिक संगोष्ठी का आयोजन सांस्कृतिक व प्रगतिशील ग्राम रामगढ़ में दिनांक 12-13 सितम्बर, 2009 को दो दिवसीय ज्ञान—विज्ञान प्रकाश पर्व के रूप में होने जा रहा है। जिसमें देश के विभिन्न अंचलों व संस्थाओं के वैज्ञानिक, प्रोफेसर, उपकुलपति, जज, पत्रकार, साहित्य सृजेता, प्रबुद्धजनों की उपस्थिति व अभिव्यक्ति से वैशिक व सामयिक आकांक्षाओं के इस ज्ञान यज्ञ में ज्ञानपिपासु जनों को विशिष्ट उपलब्धि होगी। अतः इस आयोजन का लाभ प्राप्त कर आप ज्ञानयोगी बनें इन शुभाकांक्षाओं के साथ—

वर्षायोग रथल

श्री जादिनाथ दि. जैन

निरिष, ग्राम—रामगढ़,

जिला—झुंगरपुर (राज.)

मुनि सुविज्ञासागर,

संघस्थ आचार्यश्री

कनकनंदीजी गुरुदेव

कालीनीर शिष्योंका 'वो विश्व धर्म है मेरा'

जहाँ राग—द्वेष से रहित निराकुल आत्म सुख का डेरा

वो विश्व धर्म है मेरा वो जैन धर्म है मेरा

जहाँ पद पद पर है परम अहिंसा, करती क्षमा बसेरा,

वो विश्व धर्म है मेरा.....

जहाँ गूँजा करते सत संयम के गीत सुहाने पावन—पावन

जहाँ ज्ञान सुधा की बहती निश्दिन धारा पाप नंशावन,

जहाँ काम क्रोध, ममता, माया का कहीं नहीं है घेरा,

वो विश्व धर्म है मेरा.....

जहाँ समता समदृष्टि प्यारी, सद्भाव शक्ति के धारी

जहाँ सकल परिग्रह भार शून्य है, मन अदोष अविकारी

जहाँ ज्ञानानंद दरश सुख बल का, रहता सदा सवेरा!

वो विश्व धर्म है मेरा.....

जहाँ वीतराग—विज्ञान कला, निज पर का बोध करावें

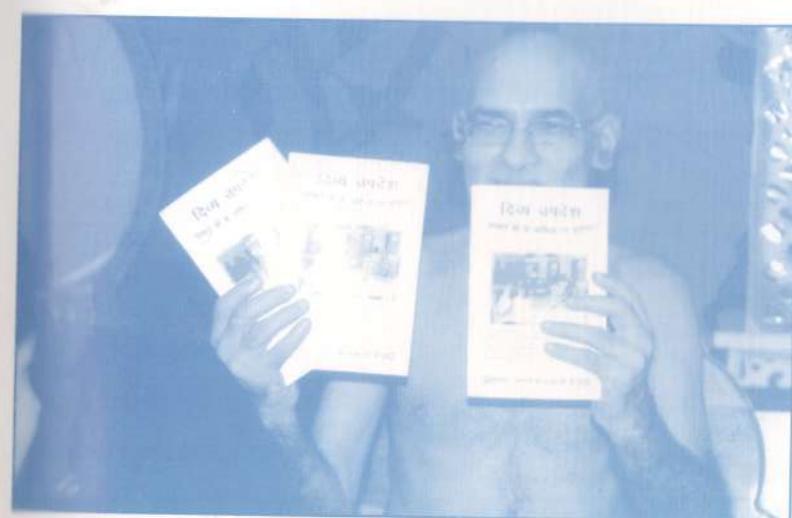
जो जन्म मरण से रहित निरापद मोक्ष महल पधरावे,

वो जगत पूज्य 'सौभाग्य परमपद' हो आलोकित मेरा!

वो विश्व धर्म है मेरा.....



फिल्म के निर्देशक डॉ. कच्छारा जी आचार्य कनकनन्दीजी के आशीर्वाद से देश—विदेश में हो रहे वैज्ञानिक—आध्यात्मिक धर्म के प्रचार के सहयोग के लिए आह्वान करते हुए।



आचार्य कनकनन्दी के साहित्य का विमोचन करते हुए आचार्य पद्मनन्दी (श्री पद्मनन्दी ने आ. कनकनन्दी से आगम का अध्ययन 15—16 वर्षों तक किया है।



जैन धर्म सम्बन्धी फिल्म निर्माण के अवसर पर पानचन्द जैन
(पूर्व न्यायाधीश राज. उच्च न्यायालय) का सम्मान करते हुए प्रो. सुशीलचन्द जैन



फिल्म निर्माण के अवसर पर उपकुलपति डॉ. तातेड (आ.महाप्रज्ञ के भक्त)
को शोधकार्य हेतु आशीर्वाद देते हुए आ. कनकनन्दी (डॉ. तातेड
आ. कनकनन्दी के साहित्य के ऊपर हो रहे विभिन्न वि.वि. शोध के निर्देशक हैं)